कृति

हिन्दी मासिक

७५
नये पैसे

१३
श्रावण; १८८

जो भी कुछ देखती हूँ

कान्ता

[१९५९-६० में रचित कविताएँ]

मूल्य : तीन रुपये

नवहिन्द पब्लिकेशन्स

८३१, बेगम बाजार, हैदराबाद

कृति
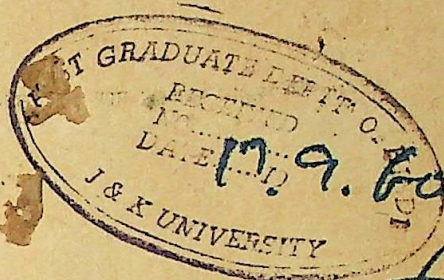
श्रावण १८८२ : अगस्त १९६०

वर्ष : दो : अंक : ग्यारह

कविताएँ

गद्यकृतियां

समकालीन कविता

पुस्तकें

प्रस्तुत प्रश्न

टिप्पणियां

कला

सम्पादक—श्रीनरेश मेहता : श्रीकान्त वर्मा
स० सं० : कान्ता

आवरण : सिम्फनी : कलाकार भाऊ समर्थ, समर्थ महाविद्यालय, पो०आ० लखनी, भंडारा (महाराष्ट्र)

[पंजाब शासन द्वारा समस्त सम्बन्धित राजकीय संस्थाओं के लिए स्वीकृत]

[उत्तरप्रदेश सूचना विभाग (ग) द्वारा स्वीकृत]

मूल्य वार्षिक : ८ रुपये
एक प्रति : ७५ नये पैसे

प्रति मास की पन्द्रहवीं तारीख को प्रकाशित

श्री नरेश मेहता, श्रीकान्त वर्मा तथा कान्ता द्वारा, ८५ नार्थ एवेन्यू, नयी दिल्ली से सम्पादित
तथा
प्रकाशक एवम मुद्रक जोगेन्द्र चन्द्र पाठक, ३२ फैज बाजार दिल्ली द्वारा
नवचेतन प्रेस प्रा० लिमिटेड (अर्जुन प्रेस के लीजिज) नया बाजार, दिल्ली में मुद्रित।

बोरिस पास्तेरनाक : फ्रेडरिको गार्सिया लोर्का

दिनारम्भ : दो कविताएँ

[१]

बोरिस पास्तेरनाक

तुमने नियति में मेरी सब कुछ लिखा
मगर इसके बाद युद्ध और दुर्घटना !
और बहुत दिनों तक मिला नहीं
तुम्हारा कोई नाम-गाँव ।

अब
वर्षों बाद पुनः
मुझको उद्विग्न कर दिया है
तुम्हारे स्वर-संगीत ने ।
सारी रात पढ़ा किया तुम्हारा धर्मालेख;
लगा : मिल रहा है
मुझको फिर आलोकदान ।

सुबह की चहल-पहल में लोगों बीच
भीड़ बीच, मैं रहना चाहता हूँ ।
मैं हूँ तैयार सभी चीज़
तोड़-फोड़ एक छड़-सा नवा देने को

और दौड़ता हूँ मैं सीढ़ी पर इस तरह
मानो मैं
उजड़े फुटपाथों को बोहे हुई
बर्फीली सड़कों पर प्रथम बार
आता हूँ ।

सभी ओर बत्तियाँ हैं : आत्मीयता है ।
लोग है : जागते हुए

चायपान करते और ट्रामों की ओर तुरत
भागते हुए ।
मिनिटों के अन्तराल में जैसे शहर बदल जाता है
लगता है एकदम अपरिचित ।

हिम-आँधी
द्वार पर गिरती हुई हिम-परतों से, बुनती है
एक जाल ।
भोजन से उठकर और चाय अ-समाप्त छोड़
भागते हैं वे सब, समय पर पहुँचने ।

इनमें से एक-एक के लिए अनुभव करता हूँ
मानो मैं उनमें हूँ, उनके ही अन्दर हूँ ।
हिम जब पिघलता है,
संग मैं पिघलता हूँ···सुबह संग
तिलमिलाता हूँ ।

मुझमें हैं लोग : अनाम लोग
बच्चे, गृहवासी और पेड़ ।
मैं सबसे विजित हूँ : यही है मेरी
एकमात्र विजय ।

[२]

फ्रेडरिको गार्सिया लोर्का

न्यूयार्क की उषः के पास हैं कीचड़ के चार स्तम्भ
और
काले पखेरुओं का अंधड़
जो सड़े हुए पानी पर मारता है पंख ।

असंख्य गली-रस्तों में
दुखी है
उषः न्यूयार्क की
ढूँढती है समय-खिंची पीड़ा का मरहम ।

आती है उष : मगर कोई भी नहीं उसे
मुख अंगीकारता—
क्योंकि भोर नहीं दिखती न दिखती आशा ही ।

कभी-कभी बस
क्रुद्ध सिक्कों का झुण्ड, टूट पड़ा
ललचाता, बेध जाता है
परित्यक्त बच्चों को।

सड़कों पर, बाहर आने वाला अग्रलोक जानता है
हड्डी भीतर के इस सत्य को : स्वर्ग नहीं,
न ही प्रेम-गाथाएँ।
जानता है अग्रलोक : हम सब
आकृतियों के दलदल,
यांत्रिक क्रीड़ाओं के नियम और निष्फल
परिश्रम की दिशाओं में चले जा रहे हैं।

प्रकाश,
जड़हीन विज्ञान की बेशर्म चुनौती के शोर और
जंजीरों में दफन है।
उपनगरों में निद्राहीन लोग, लड़खड़ा रहे हैं
मानों वे रक्त की नौकाडूबी से सद्यः
उठ आये है।

अनु:—श्रीकान्त वर्मा

उषा प्रियम्वदा

कँटीली छाँह

चोटी का फुंदना हिलाती हुई राजी मोटर से उतर कर आ रही थी, पीछे-पीछे नौकर उसकी किताबें लिए हुए था। जगत बाबू को देख राजी रुककर बोली, "आज शाम को हम नहीं पढ़ेंगे।"

"क्यों ?" जगत बाबू बाजार से आये थे, उनके हाथ में एक थैला था, जिसमें से साग के हरे-हरे पत्ते झाँक रहे थे।

"हमारा मन। मास्टर साहब, आइएगा मत, सच हम नहीं पढ़ेंगे।" राजी ने बच्चों की तरह मचल कर कहा। किताबें हाथ में लिए हरखू ने हँस कर कहा, "मास्साब, आज आनन्द भैया आ रहे हैं।"

राजी लजा गयी, होठों पर फूटती मुस्कुराहट को दबाकर उसने हरखू को आँखें टेढ़ी कर ताका। जगत बाबू खोखली-सी हँसी हँसते हुए बोले, "तो राजी, हमें क्या मिठाई खिलाओगी, कहो तो खाना न बनाएँ !"

"हाँ, मास्टर साहब, खाना आज हमारे घर खाइएगा।" उसने बड़े आग्रह से कहा।

"तुम बनाओगी ?"

"बनाऊँगी। साढ़े आठ बजे आ जाइएगा। भूलिएगा नहीं।" 'नहीं भूलूंगा। छः से आठ तक तुम्हें पढ़ाऊंगा, आधा घंटे की क्या है, रुक जाऊंगा।" जगत बाबू उसे चिढ़ाते हुए बोले।

"हम कहे देते हैं, हम पढ़ेंगे नहीं। चाहे आप कुछ भी कहें।" कहती हुई राजी अंदर चली गयी।

"किससे उलझ रही थी ?" पहुँचते ही माँ ने पूछा।

"किसी से नहीं। हाँ, अम्माँ, मास्टर साहब आज यहीं खाना खाएँगे।"

"क्यों ?" माँ ने बड़े भोलेपन से पूछा, "कोई त्योहार है क्या ?"

"त्योहार न हो तो किसी को खाना ही नहीं खिलाओगी ? बेचारे सुबह-शाम रोटी बनाते हैं। इतना तरस आता है।" राजी बोली।

"अच्छा बेटा। कोई खास चीज बनेगी ?"

"हम नहीं जानते। हाँ नहीं तो।" राजी मुँह फुला कर अपने कमरे में चली गयी ! सुबह से ही उसे सब खिजा रहे थे। आनन्द क्या आ रहा था, जैसे कोई अनोखी बात हो

रही थी। कालेज में आनन्द की बहन ने सबको बता दिया और सब उसे छेड़ती रहीं। और तो और मास्टर साहब भी, जो उसे इतने साल से पढ़ाते आ रहे हैं, उसे चिढ़ाने लगे।

"हाँ नहीं तो!" राजी ने एक बार फिर कहा और खिड़की से बाहर झुककर देखा कि ताल में कितने कमल हैं। कितने दिनों से मन में सोच रक्खा था कि जिस दिन आनन्द आएगा, उसी दिन पहली बार कमल तोड़कर कमरे में सजाएगी। वह बाहर जाने को मुड़ी कि हरखू नाश्ता लेकर आ गया। पहले राजी ने सोचा कि नाश्ता लौटा दे। फिर माँ की जिरह से बचने के लिए उसने पेठे का एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में डाल लिया। कमरा उसका साफ-सुथरा था, हर चीज कायदे से रक्खी हुई। राजी ने घड़ी देखी, सिर्फ साढ़े तीन बजे थे। तीन घंटे का अंतराल कैसे कटे? पहले सोचा कि स्नान कर ले, पर मन में अच्छा नहीं लगा, सब क्या सोचेंगे? कोई बाहर का तो नहीं आ रहा था। आ तो आनन्द रहा था। उसकी शादी तो आनन्द से तभी तय हो गयी थी, जब राजी छोटी-सी थी। लहँगा-पोलका पहनकर वह आनन्द के साथ खेल रही थी। खेलकर, आनन्द का हाथ पकड़ कर वह अन्दर आयी और बोली, "पिताजी, मेरी आनन्द से शादी कर दीजिए।"

उसकी बात पर सब ठहाका लगाकर हँस दिये और राजी झेंप कर माँ से लिपट गयी और अब तो आनन्द से पूरी रस्मों के अनुसार सगाई भी हो गयी थी। राजी के पिता नगर के प्रख्यात डाक्टरों में से थे, और उनकी इच्छा के अनुकूल आनन्द भी डाक्टरी पढ़ रहा था। आनन्द के लखनऊ चले जाने पर राजी बहुत गम्भीर हो गयी। उसका अधिकांश समय बागवानी में बीतता। बाग में ताल था, ताल में कमल थे और आनन्द आने वाला था। अपने घर तो वह सुबह ही आ गया था, पर शाम को खाने के लिए उसे निमंत्रण गया था। राजी थोड़ा नाश्ता कर बाग में गयी तो ताल के किनारे जगत बाबू बैठे थे। मास्टर साहब भी बैठकर कमल के फूलों को एकटक ताक सकते हैं, यह देख राजी को मन में आश्चर्य-सा हुआ। झुककर कमल तोड़ते हुए उसने कहा, "अच्छा मास्टर साहब, आप इन्द्रा भाभी को क्यों नहीं बुला लेते?"

"उन्हें छुट्टी कहाँ मिलेगी।" जगत बाबू ने कहा।

"उन्हें यहाँ नौकरी नहीं मिल सकती?" राजी ने पूछा।

"वहाँ उन्हें आराम ज्यादा है। यहाँ शहर छोटा है और उन्हें इतनी तनख्वाह नहीं मिलेगी।"

ऐसी शादी राजी की समझ में नहीं आती। साल भर पहले बयालीस साल की उम्र में जगत बाबू ने अड़तीस साल की इंद्रा से विवाह किया था। पढ़ीं वह चाहें कितनी हों, सच पूछो तो राजी को वह बिलकुल पसन्द नहीं थीं। मास्टर साहब बिचारे इतने शरीफ हैं। बरसों से वह डिस्पेंसरी के ऊपर रहते आये थे। इन्द्रा के आने पर अम्मा ने एक कमरा और खुलवा दिया था। फिर भी उनके मिजाज नहीं मिले। एक नौकरानी भी रक्खी, हेडमिस्ट्रेस क्या हैं, जैसे कहीं की तोप हों। साथ नहीं रहती हैं, मास्टर साहब अकेले रहें, पकाएँ, खाएँ, उनकी बूढ़ी माँ पहले साथ रहती थीं और राजी को बहुत अच्छी लगती थीं। बहूरानी ने आकर उन्हें भी न रहने दिया। अब वह गाँव में रहती हैं। उन्हें ऐसा क्लेश

दिया कि वह दुखी हो गयीं। राजी ने जगत बाबू को भी थोड़ा-बहुत दोषी ठहराया। ऐसे भी क्या बीवी के कहने में, कि कुछ बोल ही न सकें। अब माँ को खर्च भेजते हैं, छोटे भाई को इंजीनियरिंग पढ़ा रहे हैं, खुद का खर्च ! इतने दिनों तो शादी ही नहीं की, लोगों ने बहुत समझाया कि ऐसे थोड़े ही दूसरों के लिए जिन्दगी होम कर दी जाती है। बहन की शादी कर दी, भाई पढ़-लिखकर अलग घर बसाएगा, माँ सो कितने दिन की ! तो तैयार हुए। इन्द्रा जी को तो देखकर ही राजी का माथा ठनका था। बिल्कुल सिलाई वाली चन्द्रभागा बहनजी की तरह थीं। छोटी पर चकमक-चकमक करती आँखें, मुहर्रमी सूरत, तेज जबान, राजी को अब भी चन्द्रभागा देवी के चाँटे याद थे। एक बार डाक्टर साहब ने प्रिंसिपल से शिकायत कर दी थी, तब से राजी को ऐसे घूरती थीं, जैसे कच्चा चबा जाएँगी। जगत बाबू ने राजी का परिचय कराते हुए कहा था, "यही सबकी लाड़ली राजी है, इन्द्रा ! इसकी भोली सूरत देख धोखे में न आ जाना, बड़ी नटखट है, बड़ी कामचोर है।" उनके स्वर में इतना स्नेह था कि राजी चकित रह गयी। मास्टर साहब उससे इतना स्नेह करते हैं, उसने कभी सोचा भी न था। जिनके लिए हम समझते हैं कि हम उन्हें अच्छी तरह जानते हैं, उनके भी कुछ रूप हमसे छिपे रहते हैं। उसने पहली बार जगत बाबू को नये प्राणी के रूप में देखा। अब तक वह उसके मास्टर मात्र थे, यंत्र समान उसे पढ़ाते थे, वेतन पाते थे।

राजी खड़ी हुई, इन्द्रा को देखती रही। "बैठो राजी !" जगत बाबू ने कहा, तो वह सकुच कर, जिस चारपाई पर इंद्रा बैठी थी, उसी के पैताने बैठ गयी। उसे बड़ा अजीब-अजीब लग रहा था। कभी-कभी नजरें बचा कर इंद्रा के मुख की ओर देख लेती। उसमें नववधोचित लज्जा या माधुर्य का चिह्नमात्र न था। थोड़ी देर में जगत बाबू की माँ हाथ में तश्तरी लेकर आयीं और बड़े दुलार से बोलीं, "राजी, लो मिठाई खाओ !"

"अभी खाकर आ रही हूँ, माताजी। भूख नहीं है।" राजी ने कहा।

"थोड़ी-सी खा लो। तुम्हारी भाभी के घर की है। रोज-रोज कहाँ खाने को मिलेगी ! जब भतीजा होगा, तभी दुबारा मिलेगी।" कहकर उन्होंने बहू की ओर मृदु दृष्टि से देखा और हँस पड़ीं। इन्द्रा के होंठ भिंच गये। यह प्रत्यक्ष था कि उसे यह परिहास अच्छा नहीं लगा। राजी ने तश्तरी हाथ में ले ली।

"इन्हीं की अम्माँ तुम्हें कल साड़ी—जम्पर दे गयी हैं। बड़ी लाड़ली बिटिया है डाक्टर साहब की !" सास ने बहू से कहा। इन्द्रा की मुद्रा कह रही थी—होगी, हमें क्या ?

राजी वहाँ से लौटी तो अम्माँ से कहा, "हमें नहीं अच्छी लगी। खूसट बुढ़िया-सी तो है !"

माँ ने घुड़क दिया, "बड़ी मुँहफट होती जा रही है, राजी।" और चौके से महराजिन गा उठी—"जैसी हम अलबेली, तैसे सैंया न मिले। ठीक ही तो कह रही हैं बिटिया, वह तो ऐसी चन्ट है कि मास्टर साहब को चौराहे पर बेच आये।"

"बहुत पढ़ी-लिखी है।" माँ ने कहा।

राजी ने अँगूठा दिखाया, होगी, हमें क्या ?

गर्मी की छुट्टी बीतते न बीतते, बूढी अम्माँ अपना बोरिया-बिस्तर लेकर गाँव रवाना हो गयी। जाने से पहले वह प्रायः रोज ही राजी की माँ के पास आतीं और बहू की बुराई करती रहतीं। "बड़े मिजाज वाली है। रक्खे दूध की चाय नहीं पीती। नाश्ता गरम होना चाहिए। जाने कहाँ से गले पड़ गयीं। जगत मेरा इतना सीधा है, सब सह लेता है। कोई और होता तो दो जूते देकर सीधा कर देता।"

"पढ़ी-लिखी हैं तो क्या कोई जान दे दे! आजकल एमए-बीए लड़कियाँ गली-गली मारी फिरती हैं। बड़ा घमंड है अपनी कमाई का। है तो अपने पास रखे है। कौन हमें दे दी। शादी में मन की साड़ी भी नहीं दी कि सास है, खुश होकर पहनेगी। सस्ती-सी साड़ी में टाल दिया। अच्छी आजकल की शादियाँ हैं, लेने के नाम पर तो मुँह फाड़े रहें और देने के नाम पर अँगूठा दिखाएँ। जो कुछ गहना गुरिया पास था, इन देवी को देकर पछता रही हूँ।" ऐसी ही जाने कितनी शिकायतें। कम्पाउन्डर की बीवी, महराजिन, हरखू की बहू, इन सब बातों में बड़ी रुचि लेतीं और आ-आकर राजी की माँ को सुनाया करतीं। राजी तो सच, सुनते-सुनते बोर हो गयी थी, पर उसे अधिक फिक्र भी न थी, क्योंकि छुट्टियों में आनन्द आया हुआ था और खूब सैर-सपाटे हुआ करते। कभी सिनेमा देख रहे हैं, कभी आइसक्रीम खाने जा रहे हैं, कभी बाग में टहल रहे हैं, साथ में आनन्द की बहन किरन भी रहती थी, पर उससे क्या पर्दा, वह तो राजी की अभिन्न सखी थी। राजी को विश्वास था कि उसका विवाहित जीवन मास्टर साहब से बहुत भिन्न होगा। वह और आनन्द एक-दूसरे से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। आर्थिक समस्या का प्रश्न नहीं उठता था, क्योंकि वह पिता की इकलौती बेटी थी और सब कुछ उसी का था। राजी को पूरा विश्वास था कि आनन्द के साथ उसका जीवन लम्बे हनीमून के समान होगा। ताल में कमल फूलेंगे, उपवन में पक्षियों का संगीत होगा। वह और आनन्द, निश्चित सुखी जीवनयापन करेंगे। कभी-कभी उसे लगता कि वह आनन्द के विचारों में ऐसी ढल गयी है कि उसकी अपनी इच्छाएँ आनन्द के शब्दों की प्रतिध्वनि हैं। सुख के ऐसे क्षणों में अम्माँ द्वारा सुनायी गयी इन्द्रा की कथा उसे खटक उठती। ऐसी बातें सुन उसे मास्टर साहब के प्रति बहुत करुणा होती। जुलाई में जब इन्द्रा नौकरी पर वापस चली गयी तो सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। पर जगत बाबू से पूछने का साहस किसी को न पड़ा। एक बार, उनके बीमार पड़ने पर राजी की माँ ने पूछा, "मास्टर साहब! बहूरानी को क्यों भेज दिया? अम्माँ थीं, तो देखभाल तो कर लेती थीं, बीमारी-दुख में भी आराम न मिला तो औरत से फायदा ही क्या?" उत्तर में जगत बाबू फीकी-सी हँसी हँसकर रह गये। जब तक वह बीमार रहे, हरखू पथ्य-पानी करता रहा। फिर उन्होंने स्वयं ही उसे मना कर दिया। निर्धन थे तो क्या, कब तक डाक्टर साहब का आभार लेते रहते! फिर वह पनपे ही नहीं, स्कूल की कड़ी मेहनत, शाम को ट्यूशन और फिर अपना खाना बनाना। राजी को संशय था कि वह भरपेट खाते भी है, या नहीं। डाक्टर साहब का कहना था कि वह दुबले-पतले तो हैं ही, अगर ठीक से ख्याल नहीं करेंगे, तो कोई भारी बीमारी धर दबाएगी। कम्पाउन्डर की बीवी राधा अक्सर राजी के पास आ बैठती थी। एक दिन कहने लगी, "बताइए बिटिया, मास्टर साहब को कौन सुख मिला?

ब्याह हुआ, फिर भी अकेले के अकेले रहे। मैं तो सुनती रहती हूँ, रात-रात भर कराहते हैं, उठते हैं, कमरे में चक्कर लगाने लगते हैं। मुझे ऐसा दर्द लगता है, पर क्या करूँ? कभी-कभी उनकी रोटी भी अपने चूल्हे पर सेंक दीं, कभी साग बनाकर दे दिया। इससे ज्यादा कौन कर सकता है।"

मास्टर साहब के प्रति उसकी श्रद्धा से अभिभूत हो राजी ने कहा, "अच्छा करती हो राधा—अपने लिए तो सभी करते हैं, दूसरों के लिए जो कुछ कर सके, वही सच्ची सेवा है।" राधा के जाने के बाद राजी सोच उठी कि मास्टर साहब के लिए सभी इतना क्यों करते हैं। एक बार आनन्द ने कहा था, "मास्टर साहब नागफनी की तरह हैं, लम्बे, टेढ़े, विकृत, उनकी जिन्दगी भी रेगिस्तान-सी है, जहाँ नागफनी पनपते हैं।"

पर राजी सहमत नहीं हुई। मास्टर साहब में काँटे कहाँ हैं, वह तो बहुत निरीह नम्र और शालीन हैं।

आनन्द ने उकता कर कहा, "छोड़ो भी!" पर राजी अक्सर सोच उठती कि मास्टर साहब सचमुच रेगिस्तान-सा शून्य, तप्त, रसहीन जीवन बिताते हैं। पढ़ा आये, पका खा लिया और रात भर कराहते रहे। जीवन तो राजी-सा होना चाहिए, सुख का सागर उसके चरण भिगो-भिगो कर उमड़ता रहता है। उस पर स्नेह और अनुराग की वर्षा होती रहती है। आनन्द, अम्माँ, पापा, किरन, हरखू, मास्टर साहब, सभी उसे चाहते हैं, कभी एक कड़ा शब्द नहीं सुना, कभी तीक्ष्ण दृष्टि नहीं सही। राजी ने एक लम्बी साँस ली, उन सब अभागों के लिए जो स्नेह के भूखे हैं।

❀

उस शाम अम्माँ के बहुत आग्रह पर राजी ने वह साड़ी पहनी, जो पापा उसके लिए दक्षिण से लाये थे। नीले रेशम की साड़ी उसके युवा अंगों को सहला-सहला कर उसे अपने ही शरीर की कमनीयता का बोध करा रही थी। उसका चौड़ा काला बॉर्डर उसकी एड़ियों को गुदगुदा उठता। राजी को जैसे सताने के लिए साड़ी बार-बार कंधों से नीचे बाँह पर उतर आती। स्निग्ध स्पर्श से राजी की बाँह का रोम-रोम जाग उठता। सारे वक्त राजी और साड़ी में यही कशमकश चलती रही। खाने की मेज़ पर आनन्द और पापा सबको हँसाते रहे, पर राजी पहले की तरह पटर-पटर नहीं बोली। चुपचाप मुस्कुराती रही। रह-रहकर उसके चेहरे पर जो रंग दौड़ जाता था, वह जैसे पुकार-पुकार कर सबको जना रहा था कि नन्हीं राजी बड़ी हो गयी है। उसका चापल्य आनन्द के सम्मुख गाम्भीर्य में बदल गया। अपनी साड़ी में लिपटी लिपटाई, राजी को पहली बार लग रहा था कि वह सचमुच बदल गयी है। उसकी साड़ी कमर से जिस प्रकार लिपट गयी, उसे दर्पण में देख राजी को अब तक पढ़ी हुई नारी-शरीर की उपमाओं की सार्थकता एकाएक समझ में आ गयी। खाने के बाद किरन और आनन्द राजी के कमरे में आये। राजी ने बाग की ओर खुलने वाली दोनों खिड़कियों के पर्दे हटा दिये और उसके साथ ही एक पागल सुगन्ध कमरे में घुस आयी।

"राजी, तुम्हारे बाग के क्या हाल हैं?" आनन्द ने पूछा।

"कई नये-नये पौदे लगाए हैं भैया—राजी, भैया को दिखा लाओ न!" किरन मुस्कुरायी।

"तुम भी चलो किरन।" राजी ने कहा।

"न भाई, मैं बहुत थकी हूँ," किरन ने कुर्सी पर फैलकर बैठते हुए कहा।

आनन्द और राजी बाग में चले गये। राजी ने दो उँगलियों से पकड़ आगे की साड़ी थोड़ी-सी ऊँची कर ली और दोनों ताल के किनारे पड़ी बेंच पर बैठ गये। राजी एकटक कमल के फूलों को देखने लगी, कैसे सिमटे हुए थे अपने में, अलग। सुबह सूरज की पहली किरण जब आकर उन्हें सहलाएगी, तब आँखें खोलेंगे। रात की रानी के तीनों पेड़ फूलों के बोझ से झुके हुए थे, सुगन्ध हवा के हर झोंके के साथ आती और हवा राजी के ढीले बालों में उंगलियाँ फेरने लगतीं। राजी अपने चुटीले के फुँदने से रेशमी काले धागे खींचने लगी और आनन्द ने थोड़ा पास सरक कर कहा—"और सुनाओ राजी, तुम कैसी हो? दिन में कितनी बार मेरी याद करती थीं?"

"एक बार भी नहीं!" राजी ने मुस्कुराकर कहा—ताल के जल में एक नन्हीं-सी हिलोर उठी और पेड़ अनायास ही एक लहरा खा गये।

"देखो, तुम्हारे पेड़ मुझसे कह रहे हैं कि राजी झूठ बोलती है।"

❀

राजी ने धीरे से पलकें खोलीं। कुर्सी की पीठ पर गत रात्रि को पहनी गयी साड़ी तहाई हुई टँगी थी। राजी उठकर बैठ गयी और पुकारा, "हरखू!" सुबह की चाय का प्याला महराजिन को लाते देख उसे कुछ आश्चर्य हुआ। महराजिन ने उसके मुँह धोकर आने तक का बड़ी उतावली से इंतजार किया। वह तौलिया से मुँह पोंछ ही रही थी कि महराजिन ने बड़े रहस्यपूर्ण स्वर में कहा, "बिटिया रानी, कल रात बड़ा हंगामा मचा।"

"क्यों, क्या हुआ?" राजी ने पूछा।

महराजिन की आदत बात बड़े गोलमोल तरीके से कहने की थी। बोली, "कम्पोडर तो छुट्टी पर गये थे। राधा अकेली थी........."

"क्या चोरी हो गयी?" राजी ने उत्सुकता से पूछा। "नाहीं बिटिया, सुने तो। राधा अकेली थी", फिर वह समझ न सकी कि ऐसी चटपटी खबर बिटिया को किन शब्दों में दें, बोली, "बड़ी बदमास है राधा—मास्टर साहब से दोस्ती रही उसकी......"

"क्या?" राजी के हाथ से चाय छलक कर उसकी धोती पर गिर पड़ी।

"हाँ, बिटिया!" "कम्पोडर बिना बताये कल रात लौट आये। राधा को मार-मार कर देह नीली कर दी है। मालिक ने आज सुबह ही मास्टर साहब को परचा लिखकर भेज दिया कि हमारा घर खाली कर दें और बिटिया के लिए दूसरा मास्टर का इंतजाम कर लिया जायगा।" राजी ने प्याला रख दिया और दौड़कर माँ के पास पहुँची। अम्माँ बहुत क्रोध में थीं।

"पर मैं दूसरे मास्टर से नहीं पढ़ूँगी" उसने रुँआसे होकर कहा।

"तू बीच में दखल न दे राजी ! तेरे पापा बहुत नाराज हैं।" माँ ने कहा।

"और क्या, बिटिया भी सयानी भई।" महराजिन ने जोड़ा। राजी ने उन्हें घूरा तो वह चुपचाप चौके में सरक गयी।

"तो अब वह कहाँ रहेंगे, कैसे उनकी गुजर होगी ?" राजी का कंठ काँप रहा था।

"जैसे करें, हमने कोई उनका ठेका ले रक्खा है ! सोच तो राजी, कैसी खराब बात है !" माँ ने कहा।

पापा मरीज देख रहे होंगे। कम्पाउन्डर डिस्पेन्सरी में, माँ पूजाघर में थीं और महराजिन दाल पीस रही थीं। राजी चुपके से बाहर निकली, बाग का एक चक्कर लगाया और फिर डिस्पेन्सरी के पीछे से, ऊपर जाने की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। कम्पाउन्डर के घर का दरवाजा अन्दर से बन्द था। राधा चुप पड़ी होगी। सारा अपमान, तिरस्कार झेलती हुई, नीली देह का दर्द चुप पीती हुई—राजी कुछ सीढ़ियाँ और चढ़ी और रुक गयी। मास्टर साहब के दरवाजे पर बड़ा-सा ताला पड़ा था, मजबूत ताला जो रात को फाटक में लगाया जाता था। मास्टर साहब चले गये। राजी कुछ देर ताले को देखती रही। मास्टर साहब की शादी के अवसर पर दरवाजे के इधर-उधर लगायी गयी नारी-हाथों की लाल थाप धूमिल हो चली थी। ऊपर छत पर मकड़ी जाला बुनने में व्यस्त थी। मास्टर साहब चले गये। राजी सोच रही थी, मैं तो उनसे कहने आयी थी कि मास्टर साहब, चाहे कोई कुछ कहे, मेरे लिए आप उतने ही आदर के पात्र हैं। जीवन की राह पर चलते हुए यदि कोई राही किसी पेड़ की छाँह में खड़ा हो जाए, तो मैं उसे बुरा नहीं समझती, क्योंकि मैंने जाना है कि सुख क्या है.........

केदारनाथ अग्रवाल

छह कविताएँ

[१]

आज नदी बिलकुल उदास थी
सोयी थी अपने पानी में;
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया।
दबे पाँव घर वापस आया।

[२]

नदी किनारे
पत्थर बैठा गुमसुम
सूरज पत्थर
सेंक रहा है गुमसुम
साँप हवा में
झूल रहा है गुमसुम
पानी पत्थर
चाट रहा है गुमसुम
काल किनारे
चाट रहा है गुमसुम
सहमा राही
ताक रहा है गुमसुम

[३]

एक बड़ी सी नीली चिड़िया
पंख पसारे
उड़ने से मजबूर है
नील गगन से दूर है।
गहरी नीली आँख बड़ी-सी
पलकें खोले
मुँदने से मजबूर है।
आँसू से भरपूर है।

[४]

चरपई आकाश तुम हो
हम जिसे पाते नहीं
बस देखते हैं।
रेत में आधे गड़े
आलोक में आधे खड़े।

[५]

समुद्र वह है
जिसका धैर्य छूट गया है
दिक्-काल में रहे-रहे।
समुद्र वह है
जिसका मौन टूट गया है
चोट पर चोट सहे-सहे।

[६]

नाव बाँध-कर
चला गया है जीवन का मल्लाह
चढ़ी नदी से
उमड़ रही है बँधी नाव की आह
भूमि छोड़ कर
चला गया है सूरज का आलोक
अंधकार में उमड़ रहा है
खिन्न भूमि का शोक।

सुरेन्द्र कुमार दीक्षित

तीन ऋतु-चित्र

[१]

वर्षान्त : एक भ्रम

नहीं, ये मेघ नहीं उड़ते हैं ।
ये तो ठहरे हैं वर्षा-धुले नभ को
और अधिक विस्तृत
और अधिक नीला कर देने को ।
हमीं बढ़े जाते हैं—
इस पहाड़ी पर खड़ा मैं,
पेड़ों की फुनगियाँ,
बिजली के खिंचे तार,—
काटते जाते हैं
आगे और आगे
इन जलहीन मेघखंडों को पीछे छोड़
जाने कहाँ किस ओर ?

पर
नीचे सुदूर तक
बिछी हरियाली पर
दौड़ रही छायाएँ
देख रहे पेड़ खड़े
बिजली के खम्भे, तार
मैं इस पहाड़ी पर·········
पृथ्वी तो सुस्थिर है,
हम भी वहीं हैं
केवल ये मेघ उड़े जाते हैं
हम सबको पीछे छोड़
जाने कहाँ किस ओर ।
जाने कहाँ किस ओर !

[२]

बसन्त

मिली-जुली आवाज़ें गुँजा रहीं आकाश;
मिली-जुली गन्धों से
बोझिल वातास;
विरल हरियाली पर,
खिलते मिल-जुल कर
हल्के, चटक रंग
सचमुच बसन्त के होते अजब ढंग !

[३]

ग्रीष्म

जीवन नहीं, सिर्फ जीवन की हाय
दुपहर के सूने में करती साँय-साँय
हाँफती हैं सड़कें पड़ी गर्मी से पस्त—
टुकुर-टुकुर देखते मकान, निरुपाय

सिद्धेश्वर वर्मा

व्याकरण में अलंकार-कल्पना

भाषा का प्राण अलंकार है। आम बोलचाल की हिन्दी भाषा में भी समय को जतलाने के लिए '**आगे, पीछे**', तापमान के बताने के लिए '**ऊपर, नीचे**' इत्यादि प्रयोगों में दिशाओं ने अलंकार का रूप धारण कर लिया है। यही हाल संगीत के 'मन्द, तीव्र, मधुर, कठोर' आदि का है, जो सामान्य गति, रस, अथवा स्पर्श की मूर्तियाँ हैं।

भाषा की इस सामान्य प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए इस लेख में व्याकरण की '**कर्म विभक्ति**' पर जो-जो अलंकार—आश्रित कल्पनाएँ की गयी हैं, उन पर विचार किया जा रहा है। प्राचीन भारत के सर्वोत्तम वैयाकरण **पाणिनि** ने कर्म की '**कर्ता का अत्यन्त इच्छित अथवा सर्वथा अनिच्छितकारक**'—यह परिभाषा की है (१·४·४९-५०)। '**वह दही के साथ चावल खाता है**'—इस वाक्य में खाने वाले को दही और चावल दोनों ही प्रिय हैं, परन्तु अधिक प्रिय चावल हैं, इसलिए 'चावल' की व्याकरण—संज्ञा यहाँ '**कर्म**' है, तथा दही की '**करण**'। '**वह मृत्यु को प्राप्त हो गया**' इस वाक्य में व्याकरण की दृष्टि से '**मृत्यु**' '**वह**' रूपी कर्त्ता का '**कर्म**' है, परन्तु यह '**कर्म**' अनिच्छित है। अब जरा भी सोचें, तो झट से प्रतीत हो जाएगा कि '**मृत्यु**' '**वह**' का कर्म है—यह कहना एक जबरदस्त अलंकार-कल्पना है, जिसको समझने के लिए बहुत-सी अतिरिक्त घटनाओं पर विचार करने की आवश्यकता है। '**कर्म**' की संज्ञा **डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा** ने यह की है 'संज्ञा का वह रूप, जिससे यह मालूम हो कि क्रिया का फल उस वस्तु पर जा पड़ा है, जिसका संज्ञा बोध कराती है, कर्म कहलाता है।' अब फिर इस वाक्य पर विचार कीजिए '**वह मृत्यु को प्राप्त हो गया**'। डॉ० वर्मा की परिभाषानुसार मृत्यु-रूपी कर्म '**कर्त्ता**' का कर्म नहीं है (जैसे पाणिनि ने बताया था,) परन्तु '**प्राप्त होना**' रूपी क्रिया का फल है। अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार का प्रतिपादन आलंकारिक नहीं तो क्या है? '**मृत्यु**' को यहाँ क्रिया का '**फल**' कहने में जगत् की समान्य क्रियाओं के फल का सादृश्य निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में इंगलैंड के प्रतिभाशाली भाषाविज्ञ **स्वीट** ने कहा है कि 'देखना', 'सुनना' आदि के कर्म को क्रिया का विषय कहना केवल एक रूपक मात्र है' (देखिए येस्परसेन, फ़िलासोफ़ी ऑफ लेंग्वेज १९५१, पृष्ठ १५७)। '**मैं तमाशा देखता हूँ**' इस वाक्य में क्या वास्तव में मेरे देखने की क्रिया का फल 'तमाशे' पर पड़ता है? नहीं, यह केवल आलंकारिक प्रतिपादन है।

अब हम, 'क्रिया का फल उस वस्तु पर जा पड़ा है'—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के इस प्रतिपादन के इतिहास पर विचार करते हैं। इस वाद की परम्परा पतंजलि के परवर्ती भारतीय वैयाकरणों से प्रारम्भ हुई थी। वैयाकरण भूषणसार में कर्म को 'क्रियाजन्य फल का आश्रय' कहा गया है (देखिए कौण्ड भट्ट—वैयाकरण भूषणसार, १९३४, पृष्ठ १९७) 'आश्रय' इसलिए कि आलंकारिक दृष्टि से यह कर्म क्रिया का ध्येय है, क्रिया इस पर जा पड़ती है। अब इस कर्म का एक और रुचिकर प्रतिपादन भी देखिए। सिद्धान्त कौमुदी की प्रसिद्ध टीका तत्त्वबोधिनी में 'वह हरि का भजन करता है'—(संस्कृत वाक्य-रचनानुसार) 'वह हरि को भजता है,' यहाँ क्रिया तो 'भजन करना' है। यह भजन करना एक विशेष्य है, जिसका फल है हरि को प्रसन्न करना, अर्थात् प्रसन्नकारी हरि भजन क्रिया। ऐसी क्रिया जब हरि (='व्याप्य') पर पड़ती है तो हम कहते हैं कि 'वह हरि को भजता है'। यहाँ क्रिया का विशेष्य रूप से हरि पर पड़ना एक और दृष्टि से आलंकारिक प्रतिपादन है। (देखिए पाणिनि 'कर्मणि द्वितीया' २·३·२ पर तत्त्वबोधिनी की व्याख्या), परन्तु यदि 'कर्म' को क्रिया के फल का आश्रय माना जाए, 'तो उस कर्म का क्रिया के साथ अन्वय नहीं हो सकता' यह प्रसिद्ध नैय्यायिक गदाधर का मत है (देखिए—व्युत्पत्तिवाद, मुंबई, संवत् १९७०, पृष्ठ २०७)। वह कैसे ? 'वह गाँव को जाता है' इस वाक्य में 'गमन' का अभिप्राय तो केवल हिलना है। इस 'गमन' के 'स्थान-विभाग' आदि अतिरिक्त अर्थ या तो अनादिभ्रम से (यह प्राचीन नैय्यायिकों का मत है—देखिए पृष्ठ २१४-१५) कल्पित किये गये हैं (यहाँ अलंकारिक दृष्टिकोण का नमूना देखिए !), या यह कल्पना करनी पड़ेगी कि 'गम्' धातु गाँव तक पहुँचाने का अतिरित्त अर्थ रखता हुआ गाँव का एक विशेषण बन जाए (पृष्ठ २३० टीका)।

उपरोक्त प्रतिपादन से स्पष्ट होगा कि हमारे दार्शनिकों के इस प्रकार के व्याकरण-विषयक निरूपण आलंकारिकों के पड़ोसी ही प्रतीत होते हैं।

उपसंहार

उपरोक्त पंक्तियों के विशेष लक्ष्य पाठकगण को संभवतः यह प्रतीत होंगे—

(१) व्याकरण की सूक्ष्मताएँ बहुत जटिल हैं। देश में जागृति होते ही अब यह अनुभव किया जा रहा है कि अन्धकार युग की रटने की प्रणाली को छोड़कर हम प्रत्येक वैज्ञानिक कल्पना के मूलतत्व को समझने के लिए प्रवृत्त हो जाएँ।

(२) वैज्ञानिक शब्दावलि और शब्दावलि की व्याख्या तथा परिभाषा में अलंकार का अंश अनिवार्य है।

(३) प्रत्येक वैज्ञानिक स्थल और प्रकरण में इस आलंकारिक अंश पर विचार-विमर्श परम आवश्यक है। तभी हम हिन्दी को एक ऊँचे स्तर पर ला सकते हैं।

डिलान टामस

तीन कविताएँ

बुर्जियों में आवाज आती है

बुर्जियों में कानों तक आवाज आती है—
द्वार पर हाथ गिला करते है,
पाखों से आँखें देख रही हैं कि
तालों पर उंगलिया फिरती हैं।
खोल दूँ द्वार या अविचल रहूँ
इस रजत सौध में,
एकाकी, मृत्युपर्यंत,
अजनबी आँखों से ओझल रहूँ ?
ओ हाथ, तुममें क्या है—विष या दाख ?

पास के सँकरे समुद्र और
अस्थियों के तट से घिरे
इस द्वीप के पार
वह लोक जहाँ आवाज की पहुँच नहीं,
पर्वत हैं—कल्पना से परे।
पंछी या उड़ाकू मछलियों के झुण्ड
इस द्वीप की स्थिरता नहीं तोड़ सकते हैं।

इस द्वीप से मेरे कानों तक आ रही आवाज :
हवा यूँ चलती है जैसे आग।
आँखों के सामने द्वीप में खाड़ी के तट से सटे
जलपोत लंगर गिराते हैं।
बालों में हवा को उलझा कर
जलपोतों के पास दौड़कर मैं जाऊँ,
या मृत्युपर्यंत अविचल रहूँ,
कोई भी नाविक हो लौटा दूँ ?

जलपोतो, तुममें क्या है—विष या दाख ?

द्वार पर हाथ गिला करते हैं,
खाड़ी के तट से सटे जलपोत लंगर गिराते हैं,
वर्षा बालू पर चोट करती है, समतल बनाती है ।
अजनबी को अन्दर बुला लूँ क्या,
नाविक का स्वागत करूँ,
या मृत्युपर्यंत अपने को रोक रखूँ ?
अजनबी के हाथों और जलपोतों के वहन-कक्ष,
तुममें क्या है—विष या दाख ?

क्या हम कहें सुरगण बादल थपथपाते हैं

क्या हम कहें सुरगण बादल थपथपाते हैं
जब बादल वज्र घोष—अभिशप्त होते हैं,
क्या कहें वे रोते मौसम जब रोता है ?
इन्द्रधनु उनके वस्त्रों के रंग होते हैं ?

वर्षा जब होती है सुरगण कहाँ रहते हैं ?
क्या कहा जाए वे पानी छिड़कते हैं
माली के हजारे से, या प्रवाह बंधन-मुक्त करते हैं ?

क्या कहा जाए कि रति की भाँति
किसी बूढ़े देवता की नीवियाँ दबीं और नखक्षत हुईं,
धाय-सी मुझे खरीखोटी सुनाती है आर्द्र रात ?

यह कहा जाएगा कि देवता पत्थर हैं ।
लेकिन क्या पृथ्वी पर गिरा पत्थर ढोल-सा बोलेगा,
फेंके हुए कंकर क्या घंटी-रव करने को ? पत्थर ही खोलें जरा
अपनी उन जुबानों को जो सभी भाषाएँ बोल सकती हैं ।

मानस की ऋतु में ऐसी प्रक्रिया होती है

मानस की ऋतु में ऐसी प्रक्रिया है
आर्द्र शुष्क होता है; कनक-तीर
हिमवत् समाधि भेद छिन्न-भिन्न करता है ।
एक ऋतु शिराओं के अंचल में
रात्रि को दिवस बना देती है; उनके अमिताभों की रक्तधार
से जगमग जीवित कीट होता है ।

आँखों में कोई प्रक्रिया भावी अंधता की
अस्थियों से आगाह करती है; और गर्भ
जीवन के बाहर निकलते ही मृत्यु को भीतर कर लेता है ।

आँखों की ऋतु में ऐसा अंधकार होता है
जो उनका आधा प्रकाश है नप सिंधु
अंतरीपों से दूर भूमि पर लहराता है ।
वह बीज जो सिंह-वन को उगाता है
आधे फल डालों में लटकाता; और उसके आधे फल
नींदभरी हवा में आहिस्ते से गिर पड़ते हैं ।

हाड़-मांस में एक ऐसी ऋतु होती है
जो आर्द्र और शुष्क दोनों है; जीवित और प्राणहीन
आँखों के आगे दो प्रेतों—से चलते हैं ।

विश्व की ऋतु में ऐसी प्रक्रिया होती है
प्रेत प्रेतों की ओर मुड़ते हैं; हर स्तन्यभागी मानव-शिशु को
उनकी युग्म छाया में बैठना पड़ता है ।
चंद्रमा को एक प्रक्रिया रवि में उड़ा देती,
चाम के फूहड़ पर्दों को तोड़ गिरा देती,
और अन्तस् अपने शव बाहर फेंक देता है ।

अनु:—चन्द्रबली सिंह

काशीनाथ सिंह

समस्या

अस्सी चौमुहानी पर जो आदमी मुझे मिला उसे देखकर यह समझते देर न लगी कि यह किसी आफिस में क्लर्क है। लेकिन आश्चर्य इस बात से हुआ कि अगर यह क्लर्क है तो इसकी नाक पर कमानी वाला चश्मा क्यों नहीं है?

पिछले दो दिनों की तरह आज भी बादलों की एक पतली पर्त से आसमान ढका था! पानी बरस रहा था! कोलतार की काले सड़क पर बूँदें बेतरह गिर-गिर कर छिटक रही थीं। सड़क की दोनों पटरियों से इक्के-दुक्के व्यक्ति छाता लगाए आ-जा रहे थे।

चौमुहानी बाईं पटरी पर—सब्जी की दूकान के टीन के नीचे वह व्यक्ति खड़ा था। कमीज और पतलून, अधेड़ उम्र, लम्बा कद और दुबला शरीर। उसके सामने सड़क पर चार-पाँच रिक्शे थे! कुछ को शायद उसीने बुलाया था और कुछ खुद ही सवारी लेने आ आ गए थे! रिक्शे वाले भीग रहे थे!

वह बड़ा ही घबराया-सा था—जैसे किसी खतरे में हो। बीच-बीच में वह जैसी दृष्टि से रिक्शे वालों को देखता था उससे पता लगाना मुश्किल था कि वह उन पर गुस्सा कर रहा है या दया की भीख माँग रहा है। जब कभी सड़क से दक्खिन की ओर हैट लगाए कोई आदमी गुजरता, उसका हाथ अपने-आप उठ जाता! हाथ उठ जाने के बाद वह जब भी झेंपता या लज्जित होता तो उससे साफ जाहिर होता कि भूल से उसने किसी ऐसे व्यक्ति को 'नमस्ते' कर दिया है जिससे उसका कोई परिचय नहीं।

दूकान की बगल में मैं भी खड़ा था। उसने मुझे गौर से देखा! लगा, मुझे देखकर कुछ आश्वस्त हुआ है। क्षण भर के लिए उसके चेहरे पर चमक आयी। उसने घड़ी देखी। अभी दस बजने में कुछ देर थी!

—"क्यों जी, चल रहे हो?" उसने सबसे अगले रिक्शे को संबोधित किया!

—"आखिर मैं खड़ा किसलिए हूँ साहब, लेकिन कह तो दिया!"

उस व्यक्ति ने मुझे देखा—"देखा न आपने? देख रहे हैं सब कि मैं एक घन्टे से खड़ा हूँ! मेरा आफिस छूट रहा है! बस साली भी नहीं आ रही है। लेकिन ये अड़े हैं तो अड़े हैं। जाने दो पैसे में क्या रखा है? बदमाश कहीं के!" बर्षा का पानी टीन की छाजन से गिर रहा था। छिटकी से बचने के लिए वह पतलून ऊपर को समेटने लगा! फिर सिर झटक कर अपने आप से कहा—"इन सालों से बात करना भी हराम है।"

रिक्शे वाला चुप रहा। थोड़ी देर बाद बोला—"क्यों बाबू; जाना रिक्शे से है तो बात मोटर वाले से करने जाइगा! और दो पैसे में कुछ नहीं रखा है तो फिर क्यों नहीं चलते ?"

उसने जवाब सुना। वह काँपने लगा, लेकिन यह काँपना शायद सर्दी का नहीं, गुस्से का था! कुछ क्षण बाद उसने जैसी कातर दृष्टि से मुझे देखा—उससे लगा वह अपनी सहायता के लिए मुझे पुकार रहा है। उसकी सूरत साफ कह रही थी —"काश! आज यह कम्बख्त रिक्शा चलाने वाला न होकर कहीं मेरे आफिस का चपरासी हुआ होता!"

इस बीच अचानक उसने पैर को झटका दिया! हुआ यह था कि एक चींटा पानी के डर से उसके पैंट के ऊपर चढ़ आया था! झटका खाकर वह मोरी के नीचे गिरा और बहने लगा! उसने पैर बढ़ा कर चींटे को खींच लिया और जूते की हील से कुचलने लगा। थोड़ी देर बाद उसने पैर उठाया तो देखा—चींटा बूट के बीच की खाली जगह से निकल कर भागा जा रहा है! उसने दाँत पीस कर फिर पूरा जूता रख दिया।

मुझे यह सबका सब बड़ा अजीब लगा! मैंने रिक्शा बुलाया और चुपके जा बैठा! मेरे इस तरह बैठने से उसे ठेस लगी! मैंने उसे भी आने का संकेत किया। उसने अपना मुँह नफरत से फेर लिया! फिर बहती हुई मोरी में 'पच' से थूक दिया? मैंने दुबारा बुलाया! उसने घड़ी देखी! समय दस से अधिक हो रहा था। वह इनकार न कर सका—"देखो, छः पैसे कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी अधिक न देंगे! समझा?" रिक्शा वाला भी कुछ कहने ही को था कि मैंने उस आदमी को खींचकर बिठा लिया! वह रिक्शे पर एक ओर चुपचाप सिमट कर बैठ गया!

फिर अचानक नीचे झुक कर वह अपने भीगते जूतों की गाँठ खोलने लगा!—"साला अच्छा से अच्छा जूता पानी में भीग कर खराब हो जाता है!" मेरी ओर को जरा-सा खिसक आया! उन दोनों जूतों को अपनी बगल में रख दिया! और पाकेट से रूमाल निकाल कर उन्हें पोंछने लगा!

थोड़ी देर तक खामोशी रही! मैंने तनाव कम करने के लिए कहा—"दो तीन रोज से मौसम बहुत बुरा है!"

"मौसम बुरा है सो तो है ही—जमाना कहाँ कम बुरा है?"

उसे फिर जैसे किसी बात की याद हो आयी!

मैंने एकदम से बात बदलने की सोची—"आप सेन्ट्रल आफिस········

—जी हाँ, काम तो वहीं करता हूँ, लेकिन उससे क्या होता है? आपको याद होगा अभी साल भर पहले यहाँ सेंट्रल आफिस का छः पैसा देना था! लकिन अब! कोई साला रिक्शा दुअन्नी से कम में नहीं जाना चाहता!—उसके ओठ व्यग्रता में हिलते रहे!

मैंने बात फिर बदली—"आपका नाम?"

"—नाम तो जोशी है, आर. टी. जोशी! लेकिन······" जोशी फिर कुछ कहना चाहते थे लेकिन······। "······आप किस कालेज पढ़ते हैं?"

"—मैं पढ़ता नहीं, बिजिनेस करता हूँ!"

रिक्शा उस समय एक पाकड़ के करीब से गुजर रहा था !

"—यह साला पकड़ी का पेड़ भी क्या है ! बनारस में जहाँ देखो, वहीं पकड़ी का पेड़ ! और अव्वल तो यह है कि इसमें और इमली के पेड़ में कोई फर्क नहीं है !" जोशी जी मुझे देख रहे थे ! और मैं सोच रहा था कि इमली के पेड़ भी कई किस्म के तो नहीं होते ! मैंने उनसे पूछ कर अपनी अज्ञानता जाहिर कर देना ठीक नहीं समझा !

जोशी जी ने जिस रूमाल से जूते का पानी पोंछा था उसी से अपनी नाक पोंछ रहे थे ! फिर सहसा किसी बात को याद करते-से बोले—"उसके प्रिंसिपल तो सिनहा साहब हैं—के. पी. सिनहा !"

"जी, किसके ?" मैं चौंका !

"उसी आर्ट्स कालेज के !"

अब मैंने समझा कि जोशी जी ने कुछ ठीक नहीं सुना है—"जी, मैं पढ़ता नहीं, बिजिनेस करता हूँ !"

"ओह, तो यूँ कहिए कि आप पढ़ते नहीं, बिजनेस करते हैं !"

उस समय हम लोग अपनी बाईं ओर एक गली छोड़ रहे थे ! "जितनी गलियाँ इस शहर में हैं, उतनी गलियाँ किसी शहर में नहीं ! हो ही नहीं सकतीं ! और ये गलियाँ भी क्या हैं, जैसे सुरंगें बिछी हुई हैं ! जिस समय शेरशाह ने शाहजहाँ को पानीपत की लड़ाई में हराया, उस समय इन गलियों से कम सुरंगें नहीं रही होंगी ! कहिए क्या अनुमान है आपका ?" कह कर जोशी जी ने मुझे देखा ! उन्होंने गलियों के माध्यम से यह जना दिया कि उनकी इतिहास में बड़ी दिलचस्पी रही है !

"इतिहास भी बड़ा अच्छा सब्जेक्ट है ! क्यों ?" वे मुझसे पूछ पड़े ! मैंने इतिहास पढ़ा नहीं था—चुप लगा गया ! उस गली के पास ही एक रिक्शा खड़ा था और एक आदमी ! दोनों बात कर रहे थे शायद !

"देख रहे हैं वह रिक्शा और आदमी ! दोनों में घन्टे भर से तकझक चल रही होगी ! और वह भी दो-चार आने के लिए नहीं—एक-दो पैसे के लिए ! अब यह नहीं कि इन्हें पहुँचाना है तो झट-से पहुँचा के कोई दूसरी सवारी ढूँढ़ लें !" वे थोड़ी देर के लिए चुप हो गये !—"हाँ, तो आप किस मुहल्ले में रहते हैं ?"

"भदैनी !"

उन्होंने मेरे संक्षिप्त उत्तर से चिढ़कर कहा—"भदैनी ! आखिर किसका मकान, कौन-सी जगह, कितना किराया ! कैसी लोकैलिटी ! हद हैं आप भी ! सबके लिए मैं बारी-बारी से पूछूं ?"

मैं बतलाने को हुआ कि उन्होंने शुरू किया—"यह कम्बख्त डॉक्टरी !" रिक्शा उस समय एक दवाखाने के समीप से गुजर रहा था !—"डाक्टर बढ़ते जा रहे हैं, आदमी मरते जा रहे हैं। आपको यकीन न होगा, सुबह मेरे बच्चे को निमोनिया हुआ और शाम को मर गया। डॉक्टर तो ये तब कहलाते जब इन्होंने उसे बचा लिया होता ! क्यों ?"

सीट से उनका जूता सरक रहा था, उन्होंने खींच कर अपने पास कर लिया !

मेरे हाथ में एक पुस्तक पड़ी थी। 'कामायनी-दर्शन'! किताब मेरे छोटे भाई की थी जो हिन्दी से एम. ए. कर रहा था। जोशी जी ने किताब मेरे हाथ से ली और शीर्षक पढ़ कर लौटाते हुए कहा—"मेरा बेटा मोहन जोशी भी फिलासफी में एम. ए. कर रहा है! सब्जेक्ट अच्छा है, क्यों?"

मैं उनसे कुछ कहूँ कि मेरे जंघे पर रखा हुआ अखबार भी उन्होंने उठा लिया! अखबार पिछले रोज का था! पहले ही पेज पर दो भयंकर शीर्षक थे—"भारत-चीन-सीमा-विवाद" और "आइसनहॉवर की भारत यात्रा!" उन्होंने देख कर अखबार रख दिया। सामने सब्जी की एक दूकान थी।

"अगर राशन महँगा हो गया है, तो सब्जी कहाँ सस्ती है? आलू, बैंगन, अरुई और कोंहड़ा की तो बात छोड़िए। लौकी पाँच पैसा सेर हो गयी है और साग एक आने सेर! और वह भी पालक का नहीं, मेथी का! और तो और, मिर्चा साला छः पैसा सेर हो गया है!"

मैंने जोशी जी के ध्यान को खींचने के पूछा—"एम. ए का फार्म कब भरा जा रहा है, आपको तो पता होगा?"

"आई डोन्ट नो! आर्ट्स कालेज के आफिस से पता लगाइये!" जोशी जी ने खीझ कर बड़ी लापरवाही से कहा—"यह साला पानी भी क्या बरस रहा है? वहाँ जरा-जरा-सा और यहाँ इतना कि हद!" उन्होंने अपनी घड़ी की ओर देखा—"समय सवा दस हो गया और अभी आधा भी नहीं आये! क्यों बे?" वे रिक्शे वाले को घूर रहे थे!—"दो पैसे के लिए घन्टे भर रोके रहा और अब खींचा नहीं जा रहा है?......असल में देखा जाय तो हमारे देश के सामने चीन-अमेरिका का सवाल तो बाद का है। सबसे बड़ी समस्या तो ये रिक्शे हैं। रोज-रोज छः पैसे आना, छः पैसे जाना और उस पर भी इनका देर करना.........आखिर हद है!" वे चुप होकर सिर खुजलाने लगे—"हाँ, प्रिंसिपल साहब भी तो भदैनी में ही रहते हैं?"

"जी हाँ, वे एक तरह से मेरे पड़ोसी हैं! पड़ोसी क्या, उन्हें अपना ही आदमी समझिए!" मुझे प्रिंसिपल साहब की चर्चा से खुशी हुई! उनसे मेरा परिचय तो नहीं था लेकिन बगल में ही रहते थे। उनमें मेरी दिलचस्पी जरूर थी!

"अच्छा?" जोशी जी विस्मय से मेरी ओर देखने लगे। बड़ी देर तक देखते रहे!—"प्रिंसिपल साहब बड़े नेक आदमी हैं—वेरी गुड मैन! स्कॉलर भी बहुत बड़े हैं! और सज्जन तो इतने हैं कि कोई क्या होगा?" वे रुक गये—"लेकिन आपने अपना नाम नहीं बताया?"

"बी. पी. सिनहा!"

"ओह, तो आप भी सिनहा ही हैं!" कह कर जोशी जी सीट से जूता उतार कर पहनने लगे। पहन लेने के बाद वे उठने को हुए! फिर वहीं सिमट कर बैठ गये! उस समय रिक्शा पुल तक पहुँच चुका था!

"नहीं, दरअसल इन बेचारे रिक्शे वालों का दोष नहीं है! रात-दिन तो रिक्शा चलाते

हैं और पाते कितना हैं कि चार-पाँच रुपया ! और उसमें भी डेढ़-दो के करीब मालिक ले लेता है। अब बच रहे दो-तीन रुपये। अगर दिन भर मेहनत करके कोई दो रुपया पाता है तो उसका दिमाग न खराब होगा तो किसका होगा ? अगर ये हमसे, आपसे या किसी और से लड़ बैठते हैं तो इसमें इनका क्या कसूर है ?"

वे फिर जाँचती आँखों से मुझे देखने लगे—"आपका प्रिंसिपल साहब से कोई……"

"नहीं, कोई खास नहीं—बस मुहल्लेका सम्बन्ध है !"—मेरे जवाबसे वे हँसने लगे—"नहीं, बस यों ही पूछा था ! ऐसे प्रिंसिपल साहब ने वेलफेयर का भी मोहन को आश्वासन दिया है ! लेकिन बड़े आदमी हैं भूल जाते हैं, कोई कितना याद दिलाये ! और बार-बार कहना भी तो फूहड़ होता है, क्यों ?"

मैंने जोशी जी को देखा। वे रुआनी आँखों से अपने जूतों की ओर ताक रहे थे, जो लाख बचाने पर भी पानी की बौछार में बुरी तरह भीग रहे थे !

"हाँ, आप एम. ए. के फार्म के लिए पूछ रहे थे। वह शायद परसों से भरा जाएगा। देखिये, यही तो है—उस समय नहीं याद पड़ा था और अब !" वे हँसने लगे—"समय से कोई बात नहीं याद आती है ?"

लंका आ गया। मुझे वहीं रुक जाना था ! रिक्शा रुका ! "क्यों, यहीं उतरिएगा ?" कहते हुए जोशी जी मुझसे पहले ही नीचे आ गये ! पानी कोई खास तेज नहीं था—सिर्फ फुहियाँ थीं ! मैंने पैसा देने के लिए पाकेट में हाथ डाला। जोशी जी रोकते हुए बोल उठे—"जी नहीं, जी नहीं, ऐसा न कीजिए। मैं दे लूँगा !" उनके कहने के ढंग से समझना मुश्किल हो गया कि जोशी जी मेरा भी किराया खुद ही देने की बात कर रहे हैं या यह कि मैं अपना दे दूँ, उनका रहने दूँ।

मैंने पाकेट से पैसा निकाला और हथेली पर गिनने लगा, जोशी जी फिर बोले—"नहीं साहब, रहने दीजिए !" और उचक कर देखने लगे कि कितना दे रहा हूँ ! मैंने जोशी जी का भी पैसा दे देना ठीक समझा ! मैं रिक्शा वाले को देकर चला ! कुछ ही कदम चल पाया था कि जोशी जी की आवाज सुनायी दी—"सिनहा साहब !"

मैं खड़ा हो गया। जोशी जी लपक कर करीब आ गये ! "मैंने छः पैसा कहा था, आपने कितना दे दिया ?" वे ऐसे पूछ रहे थे जैसे मुझसे भूल हो गयी हो।

"जाने दीजिए, जितना दे दिया, दे दिया !"

वे क्षणभर गंभीर रहकर हँस पड़े—"नहीं, बहुत अच्छा किया। जाने दीजिए, बेचारा गरीब था !" और हाथ जोड़ कर रिक्शे के लिए मुड़ गये !

अजित कुमार अग्रवाल

छह कविताएँ

भोर की याद

और जब रात प्रेत के बालों में
लिबझी हुई हड्डियाँ टूट
गिर जाएँगी
नदी के शीशे फिर से चटक-चटक
बहने लगेंगे
कगारों के शब्दों का खौफ पानी में यूँ ही
घुल जाएगा
आसपास बालू में कोई हिंफक्स
अपने गीत बंद कर देगी
मैं रोज रात इसी तरह
लिखता रहूँगा जैसे—किसी को भूल
गया हूँ ।

सामंत बादल

कौवे भीगी छतों पर, काँपते थे
चाय की चुस्कियाँ लेने वाले
खिड़कियों से झाँकते थे
बूढ़ा बाबा गोद में बच्चे को लिये
आसमान ताकता था
कुछ देर और ठहर—
प्यार कर लेने की मोहलता माँगता था
लेकिन सामंत बादल गरजते रहे
गरजते रहे ।

बहुत दूर

बहुत दूर, बहुत दूर, उस पहाड़ी पर
पतझर हँफाता होगा कोई
उषा की लम्बी गोरी उँगलियाँ
कट जाती होंगी कहीं
घाटी का पीत मुख अँधेरा
लहू पी जाता होगा कहीं
चू जाती होगी कहीं
बर्फ, देवदारु की नोकीली टहनियों से
बह जाती होगी कहीं
नदी में हँसी रेख
बहुत दूर
बहुत दूर
हवा जोड़ देती होगी कहीं
झरते हुए पत्तों को
पी जाता होगा कहीं—झरना
फिर टूटी बूँद रंगों को
पहाड़ी पर भटकती आत्माओं-सा
मैं भी कहीं
बाँहों की बालू चुआता हूँगा
बहुत दूर
बहुत दूर ।

बच्चे बड़े हो रहे हैं

ये बच्चे बड़े हो रहे हैं
इनकी हड्डियाँ खिंच रही हैं……
इनके मस्तिष्क पर कीलें ठोंक दो
कि ये सब बुद्धिजीवी हो जाएँ

और फेफड़ों के सर्पों को दबाकर कहें
कि काश ! बचपन फिर से
लौट आता……
घोंघे से सिमटने को आतुर
माँ की गोद में खेलने को आतुर
धूप में हड्डियाँ गलाते
हम बड़े हैं
बच्चे भी बड़े हो रहे हैं।

माँ की चिट्ठी

माँ की चिट्ठी आ गयी है
बहुत दिनों बाद
हवा ने पीछे खिड़कियों से कहा
ओ मेरे बेटे !
ओ मेरे बेटे !
कमरा झाड़ ले
कोनों पर लटके मुर्दा फेफड़ों से जाले झाड़ ले
हवा तो विमाता है
कहती है—
बेटा ! मुँह से शराब की गंध आती है

बूढ़े पिता से भी यही कहेगी
ओ मेरी माँ तुम्हारे चुम्बनों-सी
चिट्ठी आ गयी है

मैं बूढ़ा—मैं माँ हीन
मौत के यमदूत मेरे पास
मेरे पास माँ का पत्र मात्र ।

दर्द

जो कुछ भी हो
यह सारा दर्द नये कवियों का फैशन है
क्या विचार सचमुच ही रौंदे जाते हैं
या नास्तिक के कुम्भ स्नान का नतीजा है
क्या किसान की कमर सचमुच ही झुकी है
या और कवियों की देखादेखी है
क्या स्टोव सचमुच ही ठंडा है
या दिमाग की सीलन ने सब कुछ
बुझा रखा है
क्या इसीलिये—
दर्द की वाहवाही भाती है
पिया बिन रात कट जाती है ।

कीर्ति चौधरी

विगत

यही तो था
जिसे चाहा था
सदा दूसरों के पास देख
मन ही मन सराहा था
"अरे हमारे पास भी यदि होता
तो यह जीवन क्या यों ही
सँकरी गलियों में
बेहिसाब खोता ?

हम भी चलते
उस प्रशस्त राजपथ पर
बढ़ने वालों के कदमों से कदम मिला कर
बोझ को फूल-सा समझते
हम भी चलते
गर्व से सर ऊँचा किये

पर जो बीत गये हैं
कठिन अभावों के क्षण
कहीं वहीं तो नहीं रह गया
वह सरल महत्वाकांक्षी मन
आह ! उसके बिना तो सब अधूरा है
वह हर सपना जो हुआ पूरा है ।

जगदीश चतुर्वेदी

दो कविताएँ

अनिश्चय की गुहा

एकाकी जीवन के तीक्ष्ण प्रहारों ने
मेरे डैने काट दिये हैं,
मैं पर-कटे पक्षी-सा
छटपटा रहा हूँ,
तड़प रहा हूँ।
जिन्दगी में कहीं कुछ नहीं······
हर रेखा टेढ़ी-मेढ़ी है
ज्यामित की आकृतियों-सी,
समानान्तर रेखाओं को उनमें मैं कैसे ढूँढूँ ?
मैं निरुद्देश्य जी रहा हूँ
पाले ठिठुरे पहाड़ी वृक्ष-सा
एकाकी जीवन।
कब बर्फीली हवा चले
और
उसे जड़ों से उखाड़ दे, पता नहीं।
जिन्दगी का कुछ निश्चय नहीं है,
मैं अनिश्चय की गुहा में पड़ा-पड़ा सड़ रहा हूँ।

रिक्तता का बोध

सूर्य का रथ
छिप गया नभ में,
मोरपंखी कल्पनाओं को लिये
घिर गयी फिर से साँझ !

साँझ—
कितनी शांत, स्निग्धा साँझ
ज्यों,
दिवस के तप्त जीवन में
मिला हो चरणों को विश्राम।

किन्तु,
ये क्षण हैं बहुत म्रियमाण
खंडित भावनाओं का कहाँ आधार ?
चंद घड़ियों में घिरेगी रात
मौत सी, काली भयावह रात
टूट जाएँगे सभी ये इन्द्रधनुषी गीत
बिखर जाएँगे सपने के मोरपंखी रंग
शेष मेरी मुट्ठियों में बच रहेगा
रिक्तता का बोध,
शून्य······कितना रिक्त
मेरी जिन्दगी का क्रम।

दूधनाथसिंह

नये काव्य की भाषा : पृष्ठभूमि

[१]

भाषा का प्रश्न उठते ही मेरे मन में उसके किसी विशेष स्तर-निर्धारण, या उसे किसी दायरे में सीमित करने की बात नहीं उठती। या यह कहें कि उसे एक उच्चतर भूमि पर ले जाकर देखने और परखने की बात उठती है। उच्चतर भूमि यह कि भाषा के प्रश्न के साथ ही कविता के सम्पूर्ण तत्व-विधान की समस्या जुड़ी हुई है, और उसकी सिद्धि भाषा के भीतर निहित है। अतः भाषा के प्रश्न के साथ मेरे मन में कविता की उपलब्धि या सिद्धि का प्रश्न—उसके समग्र अस्तित्व का प्रश्न—जुड़ा हुआ दीखता है। कविता की भाषा के सम्बन्ध में वैचारिक कोण, यथार्थतः, यहीं से प्रारम्भ होता है, और शायद हर सच्चे और ईमानदार व्यक्ति (तथाकथित आलोचक को भी) को भाषा की समस्या पर विचार करते वक्त यहीं से शुरू करना होगा।

यह कोई नयी बात नहीं है कि भाषा के प्रश्न की परीक्षा इस विशेष विस्तृत दृष्टि-कोण से की जाए। प्रत्येक कला-युग में महानतम् व्यक्तित्वों ने भाषा को—चाहे वह रंग-संकेत की मूक भाषा हो, या पत्थर की कारीगरी में निहित—इसी बिन्दु से 'संस्कृत' बनाया है, और उसे सर्वथा एक नये विकास-केन्द्र की ओर प्रेरित किया है। इस दृष्टि से भाषा की समस्या एक और शाश्वत समस्या है। यथार्थ में कला-बोध के हर नवीन आन्दोलन के साथ भाषा का एक **'नियो-क्लासिसिज्म'** विकसित होकर पूर्ण हो जाता है, जो अपने में चरम-सक्षम, श्रेष्ठ और अन्तिम होता है। इसके पश्चात् भाषा की समस्या फिर नये सिरे से कला-बोध के नवीन, परिवर्तित प्रश्न के साथ उठ खड़ी होती है। भाषा का यह आरोह-अवरोह, विकास और पूर्णता—उसकी सम्पूर्णता और उपलब्धि की दिशा में सहज और आवश्यक है।

इस दृष्टि से नये काव्य की भाषा का प्रश्न विचारणीय है। भाषा की वार्तमानिक क्षमता, अर्थ-प्रपत्ति, ढलान, संस्कार, रचना-साधन और उसकी पूर्णतम कलात्मक उपलब्धि के साथ नये काव्य के सक्षम अस्तित्व का प्रश्न आज भी जुड़ा हुआ है। नये काव्य को युग का सम्पूर्णतम कलात्मक सांस्कृतिक बोध देने में किस सीमा तक भाषा सक्षम है? नये काव्य की विकासगत और अस्तित्वगत उपलब्धियाँ—क्या हैं, और किस रूप में वे अभि-व्यक्ति के सफल रचना-विधान से जुड़ी हैं? भाषा-सम्बन्धी वे कौन-से शक्तिशाली तत्व हैं, जो

नये काव्य के साथ जुड़ने में आवश्यक हैं ? और जिनके अभाव में स्वयं नया काव्य भी अपने को किसी उपलब्धि की स्थिति में न पाकर, सतत् विकासशील अवस्था से ही गुजर रहा है ? इसके अतिरिक्त, बदलते हुए मानव-मूल्यों के साथ, काव्य-बोध के अनेक स्तरों—संगीत-तत्व, ध्वनि-विधान, आन्तरिक ध्वन्यात्मक अनुगूँज, अनुभूति का मस्तिष्कगत-बिम्बात्मक-चित्र-विधान, तथा जैविक यथार्थ के काव्यात्मक साधारणीकरण के निमित्त, किस तरह की भाषा की सक्षम प्रकृति की आवश्यकता है, इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है ।

इनमें से कुछ प्रश्न भाषा के स्वतन्त्र, मौलिक और सैद्धान्तिक धरातल से सम्बद्ध हैं, और कुछ उसके ऐतिहासिक विकास के तुलनात्मक विवेचन से । दोनों पहलुओं पर स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने पर, भाषा के विषय में उठने वाली भ्रामक धारणाओं और मसीहाइयों का आसानी से निराकरण हो सकता है ।

[२]

काव्य के बाहर शब्द अभिधात्मक होता है । उसका आन्तरिक गुण यह होता है कि वह अपने संस्कारों और विकसनशील उपलब्धियों की परिधि में, अपने से सम्बद्ध, सम्पूर्ण अर्थ की सूचना देते हुए, उसका प्रतिनिधित्व करता है । जैसे चित्र से पृथक्, किसी भी रंग का केवल एक संकेत होता है—रंग का रंगत्व । लाल केवल लाल होता है, और नीला केवल नीला । लेकिन चित्र की सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह चित्रकार के अपेक्षित, घनत्वशील, केन्द्रित 'मूड' की सार्थक अभिव्यक्ति होता है । जिस प्रकार 'मूड' की घनत्वपूर्ण सार्थकता में रंग अपने अर्थ से पृथक् एक अलग गुणात्मक अभिव्यक्ति धारण करता है, वैसे ही कला की हर विधा के बारे में यह सच है । काव्य के क्षेत्र में अपने अर्थ का प्रतिनिधत्व करते हुए कविता की वस्तु और वातावरण के अन्तर्गत तथा अनुभूति की घनत्वपूर्ण, केन्द्रीभूत सार्थकता के भीतर शब्द अपने अर्थ से पृथक् एक अन्य अर्थ-प्रपत्ति विकसित करता है । अनुभूति के विभिन्न कोणों के सामंजस्य के रूप में, अपनी अर्थवत्ता के साथ ही वह, अपने को एक नवीन बिन्दु पर स्थापित करता है । शब्द की यही आन्तरिक क्षमता 'रचती' है । शायद इसी बात को ध्यान में रख कर कॉलरिज ने कहा था कि 'कविता का विरोधी गद्य नहीं, विज्ञान है ।' क्योंकि वैज्ञानिक शब्दावली किसी तथ्यविशेष को सूचित करती हुई, उसका प्रतिनिधित्व तो करती है, किन्तु उसके बाद उसका काम खतम हो जाता है । विज्ञान का कलात्मक स्तर वहाँ से उद्घाटित होता है, जहाँ से उसका तथ्यात्मक आदर्श अपाहिज साबित हो जाता है, और यह स्थिति आज की दुनिया में कम से कम अभी सम्भव नहीं है ।

शब्दार्थ की इस भावनात्मक अर्थोद्भावना का सम्बन्ध 'कल्पना' से होता है । यहीं पर सच्चे कलाकार की परख होती है कि वह अभिधा को कितनी मात्रा में गरिमा प्रदान कर सकता है । इसके लिए वह अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर वस्तु-चयन और अभिव्यक्ति का एक गहरा वातावरण तैयार करता है । स्वयं काव्य-कल्पना भी सदियों की अर्जित

सांस्कृतिक सम्पत्ति है, जिसके द्वारा प्रभावशाली और मौलिक कवि शब्दों और वातावरण के नये संस्कार में नवीन, अनुभूत तथ्य का सम्पादन करता है। शब्दों (भाषा) के माध्यम से सम्पूर्ण अस्तित्व के सम्पादन की माँग ही कला का मूल प्राण है। शब्दार्थ की यह अर्थोद्भावना कविता में 'फोकस' का काम करती है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि कविता में शब्द सम्पूर्ण कविता की सिद्धि का उपादान है। वह प्रकाश है, जिसमें सम्पूर्ण काव्य-भावना, **'यूनिवर्सल माइथॉलोजी'** (मैक्समूलर) उजलती है। सम्पूर्ण अर्थ-प्रपत्ति, भाषा-शक्ति, विषय और वातावरण के बाद भी कहीं अनदेखी गहराई में जो कुछ शेष बचता है, वही काव्य है। वहीं वास्तविक कला सफल है।

अर्थ का यही नवीन स्तर कविता की रचना-प्रक्रिया में भाषा की समस्या को एक नये वातावरण में ला कर खड़ा कर देता है, कि क्या हमारी अनुभूति इतनी विशिष्ट, पृथक् और एकाकी है कि उसके निमित्त हमें उपादान को नया अर्थ देना, अपनी अनुभव-सत्ता के अनुकूल उसे संयोजित करना, आवश्यक है? और यदि यह विशिष्टता, पृथकत्व और एकाकीपन, कलाकार की माँग है, उसकी आवश्यकता है, उसकी सहज उठान है, उसका रचनात्मक धरातल है, तो उसके लिए भाषा के विशिष्ट, पृथक् और एकाकी (किसी संकीर्ण अर्थ में नहीं) निर्माण की आवश्यकता का भी बहिष्कार नहीं होना चाहिए। फिर भाषा की निजी शक्ति, विकास, उसके सारगर्भत्व और क्षमता की परख करना कलाकार का धर्म हो जाता है। यदि इस धर्म को वह नहीं निभा पाता, तो या तो वह निम्नस्तरीय काव्य का निर्माण करता है, या मौन धारण कर लेता है। दोनों ही स्थितियाँ कला की उन्नति में बाधक हैं, किन्तु दूसरी स्थिति को वरण कर लेना अधिक श्रेयस्कर होता है, बजाय इसके कि 'टनों' कूड़ा बाजार में फेंकते रहें। तब प्रश्न यह रह जाता है कि भाषा की इस विशिष्ट शक्ति, सारगर्भिता और क्षमता का दाता कौन है? जनसाधारण या कि जागरूक कलाकार? सच्ची स्थिति यह होती है कि भाषा के विकास के सहज, नियमित, मन्द दौरान का सम्बन्ध तो जनसाधारण से होता है—अवश्य होता है, किन्तु उसकी शक्ति और सारगर्भिता का उपयोग और विकास तीव्र-बुद्धि जागरूक कलाकार के हाथों की बात होती है। शब्द को प्रसंग और वातावरण में फेंकना और नयी अर्थ-प्रपत्ति के आभास से, नयी अर्थ-गरिमा से भाषा की विशिष्ट शक्ति को 'कल्टिवेट' करना उसी का काम होता है। इस अर्थ-गरिमा का सतत् विकास ही कविता का सतत् विकास है। अनुभूति का संगीतात्मक सम्पादन अथवा संयोजन। क्योंकि शब्द के पीछे—उसकी नीरसता, अकेलेपन और कोषार्थ के पीछे—जिस आन्तरिक संगीत की गूंज कवि बाँधता है, वही उसे नवीन बोध और नवीन वातावरण देती है। इसके लिए कवि को अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का सही ज्ञान और अपने से पृथक् की सच्ची परख उतनी ही जरूरी है, जितनी कि उसकी रचनात्मक क्षमता। आधुनिक सन्दर्भों में अपने अस्तित्व के सही ज्ञान की वजह से ही संगीतात्मक अर्थ-योजना की भिन्न पद्धति चल पड़ी, जिसे न समझ पाने के कारण वरिष्ठ आलोचकों ने नये काव्य को 'टूटे-फूटे गद्य' की संज्ञा देना उचित समझा। संगीत तत्व की इस नयी प्रक्रिया का समुचित कारण कवि की नवीन, विशिष्ट, सहज और विवश अनुभूति अधिक है, न कि कोई खालिस घटिया

विद्रोह, छन्द में लिख सकने की असमर्थता, या विना छन्द के लिखने की सुविधा। ये सभी आरोप उतने ही थोथे हैं, जितने थोथे छायावादी भाषा पर लगाये गये आरोप थे। भाषा का जो भी विकास अब तक हो सका है, उसका प्रमुख कारण अभिव्यक्ति की यही खोज रही है।

यहीं से भाषा के 'मुहावरे' की बात उठती है। बहुधा जब एक नया कवि शब्द को नया वातावरण देता है, और उसके साथ अनेक प्रकार के प्रसंग-गर्भों का उद्‌घाटन करता है, तो पुराने लोग उस पर दुरूहता, भाषा-ज्ञान की अक्षमता और असहज प्रयोग का आरोप लगाते हैं, या सीधे कह देते हैं कि यह भाषा का 'मुहावरा' नहीं है। अर्थात् भाषा पूर्ण, सक्षम और अनुरूप नहीं है। किसी हद तक यह बात सच भी है, किन्तु उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में संकीर्णमना आलोचक या कविबन्धु यह फतवा दे बैठते हैं। भाषा का 'मुहावरा' उसका जातीय गुण होता है, किन्तु यह गुण लोचदार होता है—संकीर्ण और स्थिर नहीं। ठीक उसी तरह लोचदार जिस तरह कि भाषा स्वयं है। अतः भाषा के नये मुहावरे, शब्दों को नये प्रसंग में डाल कर बनाए जाने चाहिए; और उनको अर्थ और अभिव्यक्ति के नये आदर्शों के रूप में ग्रहण करना जरूरी है; विशेषकर एक ऐसी भाषा के लिए, जिसकी शक्ति और मुहावरा कम विकसित हो – यह एक अनिवार्य-सी स्थिति हो जाती है। नया कवि यह महसूस कर रहा है कि उसकी यह सबसे पहली आवश्यकता है।

भाषा का 'मुहावरा' है क्या? भाषा की पूर्णतम, कलात्मक संतुलित संधि, जिसमें अनुभूति अपनी सम्पूर्ण अर्थवृत्ता के साथ, पाठक या श्रोता की निजी अनुभूति बन जाती है। अर्थात्, भाषा के मुहावरे से अर्थ-अभिव्यक्ति के पूर्णतम और सर्वतोमुखी विकास से सम्बद्ध है। वह स्वाभाविक लहजा, जो जन-साधारण के कण्ठ में बसता हो; जिसमें उसका मर्म बोलता हो, उसका रस नित्य प्रति उद्घाटित होता हो। इस प्रकार प्रकारान्तर से भाषा का सच्चा मुहावरा वह है जो पूर्णरूपेण साधारणीकृत हो। इस सम्बन्ध में पाल वेलरी का एक वाक्य याद आता है—'वी सी स्पीच ड्विन्डलिंग इन इम्पार्टेन्स, इन एव्हरी फील्ड, व्हेयर एक्युरेसी इज आन दि इनक्रीज।' यह 'एक्युरेसी' या 'वस्तुओं के सही नाम' की चर्चा ही नहीं है, और भाषा का यह सहज गुण सिद्ध करता है कि किसी न किसी स्तर पर आ कर भाषा की समस्या समाज-शास्त्र की समस्या है। जहाँ वह समाज-शास्त्र की समस्या बन जाती है, वहीं से उसके कलात्मक स्तर पर 'मुहावरा' भी आ खड़ा होता है। 'मैक्समूलर' जब कहता है कि 'मैन वाज़ कम्पेल्ड टु स्पीक मेटाफोरिकली।' तो उसका अभिप्राय भाषा के इसी मर्म-सम्बद्ध 'मुहावरे' से है। परोक्षरूप में यह सारी समस्या है। और साधारणीकरण की समस्या है। और साधारणीकरण की समस्या जिस प्रकार अध्ययन, अनुभूति की पकड़, मस्तिष्क और ग्रहण शक्ति के सापेक्षिक विकास स्तर (पाठक या श्रोता) पर निर्भर करती है, उसी प्रकार भाषा के मुहावरे की समस्या भी। साधारणीकरण की स्थिति में प्रत्येक सक्षम पाठक एक भिन्न स्तर का (निचले स्तर का) कलाकार होता है, जो रचना की 'पुनर्रचना' द्वारा उसकी स्थिति में प्रवेश कर उसे वहन करता है और जीता है। चाहे 'सह-अनुभूति' नाम दे लें, या 'सहभोग', उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। शब्दों के सूक्ष्म

विवेचन में शब्द ही विवेच्य हो जाते हैं, झगड़े और विवाद का विषय बनकर रह जाते हैं, और मूल विषय पीछे छूट जाता है। इसके उदाहरण हिन्दी की आधुनिक 'हाथापाई' वाली आलोचना में प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं। खैर। अतः साधारणीकरण की समस्या जिस दृष्टि-कोण से नये कवि के सम्मुख उपस्थित है, वह भाषा के मुहावरे के कारण ही। भाषा के मुहावरे का वह रूप, जो कलाकार द्वारा आविष्कृत होता है—और वह भी उसकी आन्तरिक, विवश आवश्यकता के कारण—बहुधा स्वीकृत नहीं होता; और इस स्थिति में 'दुरूहता' का आरोप सफल होता है—कुछ पाठक और आलोचक की नासमझी के कारण और कुछ कलाकार के अन्तसंघर्ष और उसकी विकासशीलता के कारण। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रत्येक जनसाधारण से कला के साधारणीकरण की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती न यही कहा जा सकता है कि '**रामचरितमानस**' की चौपाईयों पर मुग्ध और भावविह्वल प्रत्येक जन 'मानस' की कविता का सही साक्षात्कार करता ही है। नवीन अर्थशक्ति यदि सच्ची अनुभूति के भीतर, सार्थक, यथार्थ तथा जीवन्त है, तो वह निश्चय ही भाषा का विकासमान मुहावरा कहलाएगी—भाषा की सतत् उगती शक्ति, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता—भले ही वह सर्वथा नवीन और अप्रचलित हो।

अन्ततः भाषा के सम्बन्ध में इस सैद्धान्तिक चर्चा का आग्रह इसलिए अधिक है कि उससे आधुनिक कवि की अनेक समस्याएँ, रचना प्रक्रिया की अनेक स्थितियाँ, बिम्बों, प्रतीकों और चित्र-विधानों की अनेक संगतियाँ जुड़ी हुई हैं। इस सैद्धान्तिक धरातल पर वह भाषा के विभिन्न नये मोड़ों को महसूस करता हुआ अपने भीतर भी उसी के अनुरूप अभिव्यंजना के अनेक मोड़, स्तर और अनुगूँजे महसूस कर रहा है। कहीं-न-कहीं, किन्हीं स्तरों पर उसके भीतर एक अवशता, एक बँधाव या कि एक उदासी, झलक रही है, और अन्ततः एक पृथक् रूप-कथन की माँग दुहरी होती जा रही है। इसकी वजह यह है कि उसके समक्ष समस्याओं और संघर्षों का परिणामात्मक स्वरूप कुछ दूसरे रूप में अधिक सच्चाई के साथ प्रकट हो रहा है। उसका अपना 'एप्रोच' कुछ अलग है, जो कला के और आधुनिक व्यक्तित्व के सच्चे उत्तरदायित्व की माँग है। अपनी इस माँग के प्रति वह अधिक साहसी, ईमानदार—उच्छृं-खल और भावुक नहीं—और गहरा पारखी होने का दावा करता है। यह 'एप्रोच' और यह दावा खाली वैसे ही नहीं हैं; उसके सामने समस्याओं का रूप भी कुछ दूसरा है—बल्कि समस्याएँ बिल्कुल नयी हैं। और नयी होने के साथ ही उनका स्तर, कोण और परिणाम भी पहले की अपेक्षा अधिक विशाल है। यह दूसरी बात है कि उसकी विशालता की परिभाषा भी दूसरी हो। किन्तु उसके पास न तो छायावादियों का रहस् व्यक्तिवाद है, न प्रगतिशीलों की प्रतिक्रियात्मक भावुकता, और न मान्य प्रयोगवादी कवियों की नयी प्रतिक्रियात्मक मानववादी आदर्शवादिता। अपनी समस्याओं, कला के निजी सच्चे दायित्वों के प्रति जागरूक होने की वजह से ही वह उलझनपूर्ण मसीहाइयों से काफी असन्तुष्ट है, और फूट भी रहा है। कहीं वह अधिक गहराई से समझ रहा है, तो कहीं अपने से बड़ों की वेदान्ती, गुरु-गम्भीर नाटकीय समझ का खंडन भी कर रहा है। उस खंडनात्मक समझ के पीछे उसकी डूब है, उसकी गहरी अध्ययन वांच्छा है, कि भाषा, मुहावरे और उसकी पिछली

उपलब्धियों के बावजूद भी, भाषा की समस्या समाज-शास्त्र की समस्या होने के बाद भी कहीं, किन्हीं विस्तृत, विशाल संदर्भों में भाषा का ध्येय कविता के क्षेत्र में कुछ और है। अपने अनुकरणात्मक सादृश्यात्मक और प्रतीकात्मक विकास की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में हर भाषा स्वयं इसी बात को संकेतिक करती है। अनुकरणात्मक अवस्था में भाषा की प्रकृति और संसार की वस्तुगत अभिव्यक्ति के प्रति एक अक्षमता का (सापेक्षिक) बोध झलकता है। सादृश्यात्मक में तथाकथित 'सही नाम' को व्यक्त करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है, और अपनी चरम विकसित अवस्था—प्रतीकात्मक स्तर पर—अभिधा से पृथक्—उसी के भीतर से एक आन्तरिक बोध का भी प्रतिफलन होता लगता है। यहीं से भाषा जो कुछ गोचर होता है,—गोचर अर्थात् जो कुछ शब्द शरीर से व्यक्त होता है—उसके अतिरिक्त उससे कुछ अधिक, कुछ गहरा और आन्तरिक, जो उस 'नाम' से अधिक धन, पूर्ण और वास्तविक होता है, व्यक्त करने का प्रयत्न करती है। 'बर्गसों' इसी तथ्य को एक दूसरे ढंग से व्क्त करता है। वह कहता है—'लैंग्वेज इज नाट मोल्डेड आन रियेलिटी, इट इज आइदर ए वील, दैट हैज वीन वोवन बाई प्रैक्टिस बिटवीन अस एण्ड रियेलिटी........'
भाषा का यह झीना पर्दा वस्तु के यथार्थ स्वरूप-चित्रण की अपेक्षा कुछ अधिक कहने की ओर इंगित करता है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में भाषा विचारों और अनुभूतियों का एक आन्तरिक, संयमित, सम्पादित नियमन है—

लैंग्वेज दि होम एण्ड ड्वेलिंग आफ ब्यूटी एण्ड मीनिंग इटसेल्फ बिगिन्स टु थिंक एण्ड स्पीक फार मैन, एंड टर्न्स होल्ली इन्टु म्युजिक, नाट इन दि सेन्स आफ आउटवर्ड, आडिबल साउन्ड्स बट बाइ वर्च्यु आफ दि पावर एन्ड मोमेन्टम आफ इट्स इनवर्ड फ्लो......'

[डाक्टर जिवागो : पृष्ठ : ३९२]

—क्रमशः

हिन्दी उपन्यास : परती पर नये बीज

इधर कुछ अरसे से एक खास बात लोगों के बीच उभर रही थी कि **पुरानी पीढ़ी** प्रायः हतपौरुष हो चुकी है। मज़े की बात है कि जैसे हम अन्य क्षेत्रों में जल्दबाजी और शीघ्र-निर्णय के शिकार हो जाया करते हैं, वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी हमने धैर्य की गुंजाइश नहीं ही रहने दी। दो-चार साल किसी लेखक की कोई कृति मैदान में आती नहीं देखी तो फौरन हमें लगने लगता है कि उक्त लेखक मर गया। हाँलाकि इसके अनेक अपवाद देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए **वैलेस स्टीवेन्स** को ही लिया जा सकता है, जिसने अपनी सबसे महत्वपूर्ण कृति देने से पहले लगभग तेरह साल का लम्बा मौन धारण किया था। यह अभी पिछले दशक की ही बात है। **यशपाल, जैनेन्द्र, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी** आदि ऐसे कई नाम लिए जा सकते हैं, जिनके बारे में एकाधिक बार यह घोषित किया जा चुका था कि उनकी लेखनी प्रायः कुण्ठित हो चुकी है। अभी पिछले तीन-चार साल के बीच सहसा इन सभी मूर्धन्य लेखकों की विशाल कृतियाँ प्रकाशित हुईं, तो एकबारगी ही साहित्य-जगत् में स्तब्धता छा गयी। **स्तब्धता** शब्द मैं जान-बूझकर इस्तेमाल कर रहा हूँ, क्योंकि **जैनेन्द्र** के वृहत् उपन्यास **"जयवर्धन"** पर **यशपाल** को छोड़ कर किसी ने ढंगसिर की समीक्षा लिखने की इच्छा नहीं महसूस की और **अमृतलाल नागर** के **"बूँद और समुद्र"** की समीक्षाओं का महूरत तो **डा० रामविलास शर्मा** ने किया, लेकिन उसके बाद की प्रगति सिर्फ इतनी हुई कि कुछ नवजवानों ने उस प्रक्रिया की पूर्णाहुति कर दी। यशपाल के उपन्यास—**"झूठा सच"** के बारे में भगवान जाने यह कितना सच है कि कई आलोचक उसे पढ़कर उस पर ईमानदारी से लिखना चाहते थे, पर उसे पढ़ न पाये। नतीजा सामने है कि इतनी बड़ी किताब के बारे में साहित्यिकों के माध्यम से कुछ मत बनाना चाहे तो वह भटकता ही रहेगा। **भैरव प्रसाद गुप्त** का **"सत्तीमैया का चौरा"** प्रकाशित होने के बाद लोगों को बहस का अगर कोई विषय उसे लेकर सूझा, तो यह कि, उसमें उर्दू भाषा का प्रयोग सही है या ग़लत! जाहिर है कि किसी विषय की चर्चा को टाल देने का अच्छा-खासा उपाय यही होता है कि विषयान्तर कर दिया जाय। **डा० रघुवंश** का उपन्यास **"तन्तुजाल"** नये मूल्यों के समर्थकों की नज़र से चाहे बोर हो अथवा प्रगतिशीलता की नज़र से प्रतिक्रियावादी, उस पर पर्याप्त विचार न हो, इसके दो ही कारण हो सकते हैं : एक तो हमारे साहित्य-विचारक अपनी जिम्मेदारियों में संकीर्ण हो चुके हैं या दूसरे यह कि वे साहित्य के बजाय किन्हीं अन्य तत्वों के ग़ुलाम हो चुके हैं।

वृहत् उपन्यास और उपन्यास बरामद होने से पहले एक लम्बा मौन—आखिर इन कृतियों के परिप्रेक्ष्य में इन दो बातों की क्या व्याख्या और विशेषता हो सकती है ? यह बात तो जाहिर ही है कि किसी भी बड़ी चीज के लिखने के लिए काफी लम्बा समय ही नहीं, उसके लिए पर्याप्त प्रौढ़ता भी चाहिए। यशपाल जी ने "झूठासच" में अपने अनुभवों के जिस भाण्डार का आकलन किया है, वह न तो एक-दो महीने की डायरी से संभव था और न ही मात्र कल्पना से। भारत के आधुनिक-काल के जिस इतिहास की उन्होंने व्याख्या की है उसके लिए यह जरूरी ही नहीं, अनिवार्य था कि उक्त अनुभव-संकलन का एक दाना भी बिना छीज किये यशपाल उसको अपनी सामर्थ्य भर प्रोसेस करते ताकि वह घटनाओं का पुंज मात्र न रहकर विशेष जीवन-प्रक्रिया की सर्वाङ्गीण व्याख्या बन सकता। **नागर जी** के बारे में काफी लेखक यह जानते हैं कि **"बूँद और समुद्र"** छपने से पहले वे लगभग एक दशक के लिए बिलकुल मौन रहे थे और उस बीच उन्होंने उससे भी लम्बे अरसे से सँजोये अनुभवों को तरतीब और संदर्भ देकर उचित मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में पेश करने की तैयारियाँ कीं। **भगवतीचरण वर्मा** के उपन्यास **"भूले बिसरे चित्र"** का भी लगभग यही इतिहास रहा है।

प्रायः इस बात पर लोग ताज्जुब प्रकट करते हैं कि इस युग में, जब पाठकों की जेब ही तंग नहीं है, बल्कि समय भी तंग हो रहा है, तब क्या यह उचित है कि साहित्यकार इतने वृहत् उपन्यासों की रचना करें ? और भी, क्या इतने बड़े उपन्यासों के बजाय यही बातें छोटे माध्यम से नहीं कही जा सकती हैं ?

बात काफी मुतअसर करती है। **जैनेंद्र** के **"सुनीता"** और **"त्यागपत्र"** को लोगों ने जितनी रुचि से पढ़ा उतनी रुचि से **"जयवर्धन"** को नहीं पढ़ सके। **"चित्रलेखा"** की बराबरी **"भूले बिसरे चित्र,"** लोकप्रियता नहीं कर सका। लोग **"झूठा सच,"** का जिक्र करने पर आज भी **"दिव्या"** का लेखक होने का हवाला देते हैं। कुछ मुँहफट लोगों से यह भी सुनने में आया कि, पुरानी पीढ़ी के लोग **तालस्ताय** बनने की सोच रहे हैं।

लेकिन बात इतने से ही तो खत्म नहीं होती। अगर इस नेव ऐटीच्यूड को भी मान लिया जाय कि ये सभी लेखक **तालस्ताय** बनने की फिराक में हैं, क्योंकि वहाँ भी वही समस्या उठायी जा सकती है कि जब **मदाम बोवारी, फोरसाइटसागा** जैसी छोटी कृतियाँ भी विश्वसाहित्य का धरातल बना सकती हैं तो, तालस्ताय ने भी **अना केरेनिना और वार ऐन्ड पीस** को छोटा लिख कर क्यों नहीं धाक जमा ली !

वस्तुतः इस बात की व्याख्या मात्र योंही नहीं की जा सकती कि अमुक लेखक ने अपनी कृति से सफलता पायी और उक्त कृति नाप में दो हजार पृष्ठों की थी अथवा दो सौ पृष्ठों की ! मूल्य निर्भर करता है इस पर कि उक्त लेखक ने जो कुछ कहा वह कितने बड़े दायरे और कितने ऊँचे मूल्यों का सत्य था। लेकिन इस प्रक्रिया के दो भेद किये जा सकते हैं : एक तो यह कि लेखक किन्ही मूल्यों और सत्यों की व्याख्या के लिए देश काल और पात्र की योजना करे, और दूसरे यह कि लेखक किसी विचारणीय देश-काल-पात्र के मजमुए को लेकर उसकी पर्याप्त व्याख्या करे।

उक्त दोनों प्रक्रियाओं में मौलिक भेद है। संयोग से इसी भेद को हिन्दी में देखा तो गया है, पर किसी दूसरे सन्दर्भ में मस्लन, टेकनीक के अंग बनाकर। इस बात को टेकनीक का अंग मानते हुए कुछ अजीब ही बातें कही गयी हैं। मस्लन यह कहा गया है कि उक्त भेद का रहस्य विषयवस्तु का निर्वाह करने की अपनी सीमा ही होती है। वस्तुतः यह धारणा भ्रामक है। एक ही लेखक दोनों प्रकार से अलग सफल कृतियां पेश कर सकता है, अन्तर होता है दोनों के स्वरूप में। जिस कृति में चरित्रों का चुनाव मूल्यों की व्याख्या के लिए किया जाता है, वे कृतियां मूलतः या तो आदर्शवादी होती हैं या फिर अतियथार्थवादी। यथार्थवादी कृतियों में देश-काल-पात्रों का आकलन प्राथमिक होता है और उनकी परिभाषा और व्याख्या बाद की चीज।

कृतियों में देश-काल-पात्रों का आकलन प्रायः पहले हुआ करता है। इसकी एक खास वजह है। एक उपलब्ध दायरा लेकर उसकी समीक्षा करना इस पद्धति के लेखकों का उद्देश्य होता है। इसीलिए प्रायः उपलब्ध सामाजिक तथ्यों को ले लेने के बाद लेखक उन्हें ब्योरे-वार सजाता है और फिर उसी परिवेश में ऐसे सूत्रों की खोज करता है जो उसकी चिन्तन-परम्परा में व्याख्या पा सकें। वस्तुतः यथार्थवादी कलाकार का सबसे बड़ा उद्देश्य होता है समाज की परिस्थितियों की आलोचना, समीक्षा और उनका मूल्यांकन। इस उद्देश्य की पूर्ति उस प्रक्रिया में नहीं हो सकती, जिसमें कलाकार मानदण्ड पहले से निर्धारित कर लेता है और फिर उन्हें इलस्ट्रेट करने के लिए देश-काल-पात्रों का चुनाव करता है। हिन्दी में **जैनेन्द्र** और **अज्ञेय** की पद्धति यही है। उनके सूत्र होते हैं उनकी मान्यताएँ और मूल्य, जिन्हें निश्चित कर लेना अथवा ग्रहण कर चुकने का तात्पर्य ही यह होता है कि उन्होंने उन मान्यताओं के अनुकूल जीवन-प्रक्रियाएँ पा लीं। इसीलिए वे सत्य के पा लेने की बात करते हैं। अज्ञेय ने कई बार सत्य की उपलब्धि के बारे में ऐसे वक्तव्य दिये हैं। इसीलिए उन्होंने **शेखर** की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार भी किया था कि उसमें प्रस्तुत जीवनप्रक्रिया का सत्य **उन्हें [अथवा शेखर को]** एक रात में ही प्राप्त हुआ जब उसने महसूस किया कि, उसके बाद एक रात में ही पक गये हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि तथ्य और देश-काल-पात्र की तस्वीरें चाहे जितनी ऐसे लेखक के पास एकत्र हो जाएँ, वह तब तक उन्हें कोई रूप नहीं दे सकता जब तक ऐसे सत्य की उपलब्धि न करले जो उन्हें गूंथ सके। यह आदर्शवादी पद्धति है ठीक वैसी ही, जैसी उन दार्शनिकों की जो वस्तुसत्य को स्वीकार करते हैं, बौद्धिक प्रत्ययों के माध्यम से।

दूसरी प्रक्रिया होती है वह, जो किसी भी वस्तु का चुनाव कर लेने के बाद उसके बारे में सत्य का विचार करती है। ऐसी कृतियाँ सहज ही न तो एक रात में इलहामी तौर पर बरामद हो सकती हैं और न ही बिना अनुभव के लम्बे दौर के सम्भव ही होती हैं। लेखक विविध अनुभवों को संकलित करता है, उन्हें वर्गीकृत करता है और उनकी अन्य उपलब्ध तथ्यों से तुलना करने के बाद उनके स्तर, स्वरूप और मूल्य के बारे में निष्कर्ष निकालता है। यहाँ सत्य पाने के बाद कथा का जन्म अथवा संयोजन नहीं होता, बल्कि कथा के संयोग

के बाद [अधिक बारीकी से जाने पर संयोग के साथ ही] सत्य की उपलब्धि की जाती है।

विस्तृत कृतियों के पीछे अधिकांशतः यही आवश्यकता होती है। किसी उपलब्ध तथ्य [अथवा देश-काल-पात्र] के कितने पहलू हो सकते हैं, उसमें कितनी अन्य सचाइयाँ संयुक्त हैं, उसकी अन्य संभावनाएँ कितनी और क्या हैं—आदि बातों की स्थापना के लिए यह लाजिमी होता है कि कथाकार वस्तु के उतने विस्तार में जाय, जितना सम्भव हो और उसकी उतनी संभावनाओं का उद्घाटन करे जितनी हो सकें और उसकी विविध परिवेशों के प्रति संवेदनशीलता को जानने के लिए उसे इतने पात्रों और इतनी परिस्थितियों के संपर्क में लाये जितना अधिक से अधिक संभव हो।

पिछले दशक के साहित्यिक पुनरावलोकनों और आत्मालोचनाओं का प्रभाव हो या फिर अनेक क्षेत्रों में पैदा हुई साहित्यिक सुगबुगाहट का ही असर हो, पर यह बहुत बड़ी बात हुई कि हिन्दी साहित्य के प्रौढ़ लेखकों का ध्यान एकबारगी ही भारत के वर्तमान की व्याख्या और उसके समुचित आकलन की ओर गया। यशपाल का "झूठा सच", देश-विभाजन और स्वाधीन भारत के स्वरूप का आकलन और उसकी समीक्षा करने के लिए लिखा गया। जैनेन्द्र का "जयवर्धन" वर्तमान दिग्भ्रान्त राजनीति को कोई नयी परिभाषा देने के लिए सामने आया। अमृतलाल नागर का "बूँद और समुद्र" वर्तमान समाज में विघठन की रूप-रेखा स्पष्ट करने के उद्देश्य से और भगवतीचरण वर्मा का "भूले बिसरे चित्र" इसी जीवन में सामन्ती प्रथा और नौकरशाही के कीटाणुओं का उद्घाटन करने के लिए लिखे गये। "परती-परिकथा" में रेणु ने विकृत होती ग्रामीण सभ्यता का खाका खींचा और भैरव प्रसाद गुप्त ने "सत्ती मैया का चौरा" में विकृत होते ग्रामीण-जीवन के साथ संघर्ष करते व्यक्ति की तस्वीर दी। ये सारे प्रयत्न जिस तेजी और धरातल के साथ सामने आये, उन्हें देखते हुए साहित्यकारों और हिन्दी जगत् में पर्याप्त उत्साह नहीं फैला। एकमात्र उत्साह दिखाया गया "परती परिकथा" के लिए जिसके परिप्रेक्ष्य में भी व्यक्तिगत भँड़ास उतारने का हौसला प्रधान रहा, कृति के मूल्यांकन का कम। इसका एक दूसरा सुबूत है जैनेन्द्र की रचना "जयवर्धन।" साहित्यिक मान्यताओं से विरोध हो यह दूसरी बात है, क्योंकि तब विरोध में लिखने की ही बात रहती है, पर इस बारे में ताज्जुब की बात तो यह थी कि "जयवर्धन" पर यशपाल ने आलोचना में तो पूरा एक निबन्ध लिखा और दूसरी जगह दूसरे समीक्षकों की एक पंक्ति भी ढंगसिर की नहीं देखने में आयी। या तो यह कहा जाए कि यशपाल ने जैनेन्द्र का पक्षपात किया और या यह कहा जाए कि उनकी अभिरुचि दूसरे साहित्यकारों से निचले स्तर की है, वरना इसे क्या कहा जाए कि जयवर्धन को यशपाल ने तो इतना महत्व दिया कि उसपर एक निबन्ध ही लिख डाला और दूसरों को वह इतना ट्रैश लगा कि उन्होंने उसकी नोटिस लेनी भी आवश्यक नहीं समझी। यही बात स्वयं यशपाल के "झूठा सच" के बारे में भी लागू होती है।

इसका कारण क्या हो सकता है? शायद दो ही कारण हो सकते हैं: एक तो यह कि किसी कारण से समीक्षकों को गतिरोध की स्थिति महसूस करना जरूरी हो गया और

उन्होंने ऐसी कोई बात खण्डित हो जाने के बावजूद खामोशी को अपनी जीत माना। दूसरी बात यह कि समीक्षक इतनी और इस कोटि की रचनाओं को पाकर भ्रमित हो गये, हतबुद्धि हो गये। रचनाओं के इस बन्च के आने से पहले हिन्दी जो कुछ थी, उसे अँगुलियों पर गिना जा चुका था। "झूठा सच" से पहले के यशपाल, "जयवर्धन" से पहले के जैनेन्द्र, तथा इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, भैरव प्रसाद गुप्त, अज्ञेय, और इस सबके ऊपर प्रेमचन्द। प्रेमचन्द की परम्परा में व्यतिक्रम डालते हुए जब जैनन्द्र आये तो एक बावेला हुआ और हिन्दीवालों ने अपने को कहीं न कहीं स्थिर कर ही लिया। फिर अचानक अज्ञेय आये। उन्हें भी एडजस्ट किया हिंदी समीक्षकों ने। फिर अज्ञेय की परम्परा का नाम लिया जाने लगा और आधे दर्जन से ऊपर नये लेखक उनकी परम्परा में सम्बद्ध होकर आये घोषित किये गये; लेकिन चूंकि अज्ञेय को स्वयं एडजस्ट किया जा चुका था इसलिए ये अधिक असुविधा-जनक नहीं हुए। पर समीक्षकों के लिए यह बात सहसा एक समस्या बन गयी कि उन्होंने जिन्हें अपनी विविध व्याख्याओं द्वारा विद्यार्थी-समुदाय के सामने किन्हीं स्थायी पैमानों में फिट कर रखा था वे फिर से नयी परिभाषाएँ और मूल्यांकन माँगने आ खड़े हुए। यह बात अटपटी भले ही हो, पर अधिक जटिल नहीं है। यशपाल को हिंदी ने जिस किसी भी रूप में समझ रखा हो, उनके प्रति अपने मूल्यनिर्धारण में हिंदी का विद्यार्थी कुछ विशेष राजनीतिक कहानियाँ, क्रांतिकारियों के संस्मरण, सामाजिक आलोचनाएँ और विचार, "दादा कामरेड," "दिव्या"··बस, करीब-करीब यही थी वह पूंजी जिसे लेकर वे यशपाल के बारे में अपना मत बनाते थे। पर यह "झूठा सच" एकबारगी ही समस्या बन जाता है, सिर्फ इसलिए कि यशपाल के पहले के लगभग सारे के सारे उपन्यासों का मजमुआ भी कलेवर में इससे कम ही होगा और इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दी का विद्यार्थी या तो इसे पढ़े और यशपाल के कृतित्व में कोई न कोई वृद्धि, कमी अथवा संशोधन को स्वीकारे और या फिर यही मान ले कि इसके बावजूद यशपाल जो भी पहले थे, वही हैं। सुविधानुसार यह ज्यादा आसान बात है। किसी के बारे में जो भी मत हो, जल्दी-जल्दी नहीं ही बदला जाए तो सुविधा होती है हिन्दी के विद्यार्थी को, क्योंकि जल्दी-जल्दी कोर्स की किताबें बदलने में होने वाली असुविधा को देख चुका है वह।

यह समूचे हिन्दी के प्रबुद्ध वर्ग की समस्या है, सिर्फ किसी एक दो समीक्षा-लेखकों की ही नहीं। इतनी बड़ी चीज लिखने के बाद अगर यशपाल के पहले के व्यक्तित्व की वृद्धि अथवा कमी का कोई परिवर्तन हो गया तो हिन्दी के विद्यार्थी को अपनी धारणाओं का पुनरावलोकन करना होगा और इसका अर्थ तो यह हुआ कि नये सिरे से उसे विचार-श्रम करना होगा। अगर यशपाल वही के वही रहे, तब इतनी बड़ी चीज पर मेहनत करने का कोई उपयोग नहीं। और यशपाल चूँकि बड़े लेखक हैं, और बड़े लेखक स्थायी महत्व वाले होते हैं [ईश्वर की तरह अविकारी] इसलिए यही मानना ज्यादा मुफीद है कि वे ज्यों के त्यों ही रहे और उनके बारे में नये मूल्यांकन की कोई जरूरत नहीं।

यह दुर्घटना यशपाल के साथ ही नहीं प्राय: उन सभी के साथ हुई है, जिन्हें हिन्दी किसी न किसी धारणा का शिकार बना चुनी थी। भगवतीचरण वर्मा शायद इस प्रवृत्ति के शिकार

सबसे अधिक हुए, क्योंकि उन्हें उनके तमाम कृतित्व के बावजूद "चित्रलेखा" के लेखक के रूप में ही लोग जानना पसन्द करते हैं। "भूले बिसरे चित्र" को पढ़ कर उनके व्यक्तित्व में में हिन्दी के विद्यार्थी को कितना क्या नया और जोड़ लेना होगा, यह सोच-समझ कर लोग चुप लगा जाना ही बेहतर समझते हैं। वस्तुतः पिछले दशक में प्रौढ़ लेखकों का यह मौन हिन्दी उपन्यासों के लिए गतिरोध न होकर हिन्दी समीक्षा के वर्तमान गतिरोध [अथवा मतिरोध !] की ही परीक्षा है।

नयी कविता का कुत्साचार

नन आफ़ अस कैन से, हू विल सक्सीड, आर ईवन हू हैज आर हैज नाट टैलेन्ट। दि ओनली थिंग सर्टेन अबाउट अस इज दैट वी आर टू मेनी। —**डब्ल्यू० बी० यीट्स**

नयी कविता पर एकदम से अपनी कोई राय—अच्छी या बुरी—दे देना मुझे गलत लगता है। वह पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है; और उस बिखरी हुई सामग्री का जो प्रभाव मन पर बनता है, वह कुछ इतना मिला-जुला होता है कि कविता कभी विकासोन्मुख मालूम होती है, तो कभी नितान्त तथ्यहीन और बेकार भी। पत्रिकाएँ पढ़ कर प्रायः जो पहली प्रतिक्रिया मन पर होती है, वह यह कि कवियों को कविता लिखने का शौक तो है ही (और शौक अगर है, तो उसमें उज्र की कोई बात नहीं—हर व्यक्ति का अपना एक शौक होता है; और उस शौक को पूरा करने के लिए उसके योग्य प्रतिभा का होना, न होना कोई महत्व नहीं रखता!), पर लिखने से कहीं ज्यादा शौक और जल्दबाजी उसे छपाने की है। बड़ी कोफ्त होती है। और परिणाम यह होता है कि कोई भी निश्चित धारणा बनाते हुए झिझक होने लगती है। अलबत्ता, जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनसे—बावजूद इसके कि उनमें से भी कुछ किसी-किसी की सही प्रतिभा के परिचायक हैं, तो कुछ उक्त शौक के—यह आशा की जा सकती है कि भविष्य की कविता अधिक जीवन्त और अधिक ईमानदार कविता हो सकेगी।

प्रायः सुनने-पढ़ने में आता है कि आज की कविता अधिक वैयक्तिक हो गयी है, और यह कि उसमें आत्मीयता का अभाव है। वैयक्तिकता की यह बात शत-प्रतिशत सही है। किन्तु उसके कारणों को प्रायः समझ कर भी समझा नहीं जाता, और हर कवि-अलोचक और आलोचक-कवि उस पर वैक्तिकता का दोषारोप, निःसंकोच होकर, कर बैठता है। दरअसल, यह वैयक्तिकता शुद्ध वैयक्तिकता नहीं, विवशता की वैयक्तिकता है। जीवन आज इतना अधिक उलझा हुआ एवं जटिल है कि कवि स्वयं को, परिवार और समाज से कटा और अलग अनुभव करता है, बल्कि पूरा कटा या अलग भी नहीं, उससे जुड़े और टूटे होने के बीच की अवस्था में। अजीब-सी स्थिति है। चारों ओर के अन्धकार से घबरा कर वह जो अपनी रचना में उसी अन्धकार को अभिव्यक्त कर रहा है, वह केवल, और केवल अन्धकार नहीं है;—है उससे मुक्त होने का छटपटाहट-भरा प्रयास। यह अँधेरा इसलिए नहीं है कि कवि औरों से पृथक् अथवा 'विशिष्ट' है, वरन् इसलिए कि वह सिर्फ कवि को नहीं, उसके आस-पास को भी डस रहा है। और अँधेरे की इस यातना से भाग या बच कर, आश्रय के लिए वह जहाँ भी कहीं जाता है, पाता है, स्थान वहाँ भी नहीं है, हो भी नहीं सकता,

क्योंकि खुद उन्हें भी जगह नहीं, जो वहाँ रह रहे हैं। इस तरह सामाजिक होने के प्रयत्न में जब वह पराजित होता है, तो तिलमिलाता है; और अपनी रचना का आधार उस विषय को बनाता है, जो उसकी मजबूरी भले हो—मजबूरी ही वह हो सकता है—अभिप्रेत कभी भी नहीं।

इसी वैयक्तिकता का एक कारण यह भी है कि समाज जिस तीव्रता से साहित्यकार से दूर होता जा रहा है, लगभग उसी, बल्कि शायद उससे दुगुनी, तीव्रता के साथ, साहित्यकार भी अपने-आपको समाज और जीवन से विच्छिन्न कर ले रहा है। उसकी सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह सकारण और अकारण भी, स्वयं को सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त मानने लगा है (कहना बुरा न मालूम हो, तो कहा जा सकता है कि कारण अपने-आपको विशिष्ट मानने और मनवाने की उस मनोवृत्ति में निहित है, जो कम-से-कम वर्तमान युग में, अशुभ ही मानी जाएगी), या चूँकि वह उस जीवन में खुद को खपा नहीं पाता, उससे चिढ़कर, चाहे-अनचाहे फिर उसी एकान्त में लौट जाता है, जिससे उबरने की चेष्टा ही में वह बार-बार समाज की ओर मुड़ता है, किन्तु उस एकान्त में वस्तुतः समाज अथवा सामाजिक-जैसा कुछ नहीं है। उसका कोई समाज है, तो वह लेखक-समाज है; उसकी बातचीत का कोई विषय है, तो वह है साहित्य, साहित्यिक समस्याएँ, स्वयं साहित्यकार; और उसकी कोई प्रवृत्ति है, तो वह है छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति। वह शायद बहुत ही अनजाने यह भुला बैठता है कि जीवन का सच्चा परिचय पाये बगैर उत्कृष्ट साहित्य-सृजन संभव ही नहीं। अतः नयी कविता में जीवन और जीवन-आवेगों का जो अभाव परिलक्षित होता है, उसका एकमात्र कारण कवि का जन-जीवन से असम्पृक्त होने के कारण सीमित जीवन-बोध ही है। मानता हूँ कि उसके मूल में समाज कम उत्तरदायी नहीं, लेकिन लेखक पर उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं आता, ऐसी बात भी नहीं है। फिर, यह भी मानना होगा कि जन-जीवन से कट जाने के मूल में कवि की वे तीव्र प्रतिक्रियाएँ भी काम कर रही हैं, जिनकी पीड़ा को भोगने का बल उसमें नहीं है; और जिनसे ऊपर उठने की कोशिश, या तो वह इस भ्रम में करता ही नहीं कि एकान्त के टूटने से उसकी सृजन-शक्ति बँट जाएगी और वह कवि नहीं रह जाएगा; या अपनी कोशिश में नाकामयाब हो जाता है। इस असफलता की वजह यही हो सकती है कि इस आधुनिक कहलाने वाले रचनाकार के पास वह तटस्थता नहीं है, जो उसे समाज और परिवार में रहते हुए भी, उनमें बीत रहे जीवन और उससे सम्बद्ध समस्याओं के प्रति निष्पक्ष होकर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की सामर्थ्य तथा क्षमता प्रदान कर सके। यों, इस तटस्थता के अभाव का कारण शायद खुद उसके जीवन की जटिलता और पग-पग पर घेरती हुई समस्याएँ ही हैं। (इस सबको यहाँ लिखना संभवतः अप्रासंगिक अनावश्यक एवं अनुचित जान पड़े, किन्तु मेरा खयाल है, स्थिति को सही जाने बगैर नयी कविता को समझना भी बहुत मुशकिल होगा, क्योंकि अन्ततः आज की काव्य-रचना इन स्थितियों से पूरी तरह आक्रान्त एवं प्रभावित है। और न ही अब वह उस ऐकांतिक महत्व की वस्तु रह गयी है, जब दीन-दुनिया से बेखबर रहकर भी कवि केवल कल्पना-लोक में विचरता रहता था।) इस प्रकार, नयी कविता में परिलक्षित वैयक्तिकता, दरअसल,

उस विवशता की वैयक्तिकता है, जब रचनाकार को विभिन्न कारणों से अपने व्यक्तित्व और अपने तथाकथित समाज के दायरे में सिमट जाना पड़ता है। हर्ष की बात है कि वह इस स्थिति से मुक्त होने की जरूरत को समझ रहा है। इधर की कविताओं में कुंठा और व्यंग्य के स्वरों के साथ-साथ जीवन और उसकी स्वीकृति का वह प्रसन्न आवेग भी है, जो नयी कविता के विकास के प्रति लेखक और पाठक—दोनों को आशान्वित करने की क्षमता रखता है।

आत्मीयता के अभाव की शिकायत बहुत कुछ निराधार प्रतीत होती है। नयी कविता में जीवन अब अपनी सम्पूर्ण व्यापकता के साथ अभिव्यक्त हो रहा है। जीवन के बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे क्षण की अनुभूति को वह अपने में समेटे हुए है। यदि किसी को उसमें आत्मीयता लगती है, तो वह काव्य-वस्तु की नहीं, उसके प्रस्तोता की आत्मीयता है, जो वस्तु को काव्यात्मक स्तर पर अनुभूत किये बगैर उसे अपने लेखन का विषय बना लेता है, या जो उसे प्रभावशाली बनाने की कोशिश में शिल्प और अन्य आडम्बरों के चक्कर में पड़ कर इसकी पड़ताल नहीं करता कि उसका मत कविता के उपयुक्त हैं, अथवा नहीं।

चन्द सतरें भाषा पर भी। कहा जाता है कि नयी कविता के उपयुक्त उसकी भाषा नहीं है; कि विशेष वातावरण प्रस्तुत करने के लिए विशेष भाषा की आवश्यकता होगी ही। बात सच है। पर कौन-सी भाषा? 'अज्ञेय' की संस्कृतनिष्ठ भाषा, जो अपनी गरिमा के कारण ही खुद उनकी रचना के प्रति मन से शिकायत दूर कर देती है, या 'पंत' की कोमल-कान्त भाषा, जिसकी संगीतमयता की प्रशंसा हम अनायास करने लगते हैं? स्पष्ट है कि ये दोनों ही नयी कविता के लिए उपयुक्त नहीं हैं। आज चूंकि कविता का क्षेत्र सीमित नहीं रह गया है; आज चूंकि कविता केवल विरह मिलन ही नहीं; घर के चूल्हे-चौके से लेकर आधुनिक जीवन की समस्त जटिलताओं का बोध भी अपने में समाहित किये हुए है, तो यह जरूरी हो जाता है कि जिस जीवन को अभिव्यक्त किया जाए, उसके अनुकूल भाषा का निर्माण भी हो। बात फिर वहीं आ जाती है कि अब न तो 'अज्ञेय' की भाषा ही कविता की भाषा हो सकती है, न पंत की। अब उसे सीधे बोली से लेना होगा—उसके शब्दों और मुहावरों को साहित्यिक रूप में ढालना होगा। वैसे, मेरा ख्याल है, इस ओर अधिक चिंतित होने की जरूरत नहीं, क्योंकि कुल मिलाकर भाषा हमारी नजर में चाहे जितनी अनुपयुक्त हो, उसमें एक स्पष्ट परिवर्तन देखा जा सकता है। साधारण पाठक से बात करने पर पता चलता है कि वह भी नयी कविता की भाषा में हो रहे परिवर्तन से अवगत है, और उसे प्रसाद, पंत और 'अज्ञेय' की भाषा से कहीं ज्यादा अपने निकट की मानता है। यह जरूर सच है कि इस परिवर्तन को और आगे बढ़ाना होगा, उसे निखारना और सँवारना होगा, और उसे वह समृद्धि प्रदान करनी होगी, जो निःसन्देह, अभी तक नहीं है। ऐसा होने पर ही हिन्दी की नयी कविता का भावी विकास अधिक दृढ़ और निश्चित हो सकेगा।

एक बड़ी कमी, जो मुझे नयी कविता में लगती है, वह वह कि प्रायः ऐसी रचनाएं पढ़ने को मिलती हैं, जिनका कथ्य अपने आप में बहुत छोटा होता है, पर जिसे कहने के लिए बड़े 'कैनवस' चुने जाते हैं। ऐसी भी, जिनका कथ्य बड़ा है, महत्वपूर्ण है, किन्तु जिनका

'कैनवस' या तो छोटा है, या जिनकी भाषा, किसी सीमा तक, विषयानुकूल नहीं है, और जिनमें कवि एक बिम्ब से दूसरे पर या तो बहुत जल्द 'जम्प' करता है, या एक ही बिम्ब को इतना खींच ले जाता है कि उसका प्रभाव नष्टप्राय हो जाता है। लेकिन इस प्रश्न के साथ प्रतिभा और भाषा की समस्याएँ भी जुड़ी हुई हैं। भाषा सम्बन्धी समस्या के हल होने के साथ ही शायद यह प्रश्न भी नहीं उठेगा। वैसे, 'कैनवस' के चुनाव की प्रतिभा भी प्रतिभावान् में होनी चाहिए, अन्यथा कोरी प्रतिभा व्यर्थ हो जाती है।

जिसने विदेशी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है, उसकी झुँझलाहट का अन्दाज लगाना बहुत आसान होगा, जब विदेशी साहित्य से प्रायः अपरिचित, या उसकी न कुछ-सी जानकारी रखने वाले व्यक्ति को भी नयी कविता पर परिचय के बहुत से प्रभाव—अच्छे कम, बुरे ज्यादा—दिखायी देते हैं। प्रभाव ग्रहण करना बुरी बात नहीं है, बल्कि अच्छे प्रभाव रचना को निखार देते हैं, लेकिन वहाँ की नकल पर उस जीवन को चित्रित करना अवश्य ही औचित्य की सीमा में नहीं आता, जो यहाँ का जीवन नहीं है, और जिसका कोई बोध एवं अनुभव हिन्दी के रचनाकार को नहीं होता। फिर, वहाँ की नकल करके आधुनिक नहीं कहलाया जा सकता, अपितु उस किस्म की कोई मौलिक चीज लिखने का प्रयास भी भोंडा होकर रह जाएगा। विदेशी अनुभूतियों को अपने काव्य में अभिव्यक्त करने के मूल में शायद वह रीतापन भी है, जो 'नयेपन' के अत्याग्रह के कारण ढीठ हो गया है। किन्तु बजाय इसके कि साहित्य में वह कूड़ा भरा जाए, जो अनुभूति की नहीं, दुराग्रह की उपज है, बेहतर यह होगा कि काव्य चुक गया हो, तो रचनाकार मौन साध ले।

ऊपर मैंने नयी कविता में जीवन और उसकी स्वीकृति के प्रसन्न आवेग की बात लिखी है। वस्तुतः ऐसी रचनाएँ बहुत कम हैं। अधिकांश में कवियों का अति आधुनिकता के प्रति आग्रह ही दृष्टिगोचर होता है, जो अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता है। आये दिन ऐसी अनेक रचनाएँ सामने आती हैं, जिनमें कविता के नाम पर है गन्दगी, लेकिन कवि जिसे अपने वक्तव्य में (आजकल हिन्दी में वक्तव्य लिखने का फ़ैशन चल पड़ा है—इससे मतलब नहीं कि वह सही मानी में वक्तव्य है या कि नहीं—बस, 'टाइटल' वक्तव्य भर होना चाहिए !) 'आधुनिकता' अथवा 'आधुनिकता का बोध' जैसी संज्ञा देकर यह सिद्ध करना चाहता है कि उसने जो लिखा है, वह दरअसल कविता है (अगर आप उसे कविता नहीं मानते, मान पाते, तो मूर्ख हैं।)—अगर पाठक, विशेष पाठक भी, उसे समझ नहीं पाता, तो उसकी वजह उसकी सीमित साहित्यिक समझ है (हिन्दी का कवि अब असीम जो हो गया है !), न कि स्वयं कवि की रचना असामर्थ्य। फिर मजा यह कि यदि उसे उसके दोष बताएँ तो वह चिढ़ता है (वह तो निर्विकार, दोष सर्वथा दोष-रहित जो ठहरा ! आप अगर दोषों को 'पाइण्ट आउट' करते हैं—भले ही 'सिन्सियरिटी' के साथ, तो गलती करते हैं। अगर आगे भी ऐसा कुछ करना चाहें, तो पश्चात्ताप के लिए तैयार रहें !), और अपने विरोध को उस स्तर पर ले आता है, जो शोभन नहीं कहा जा सकता। वह सोचता है, गन्दगी का चित्रण ही नयी कविता को नयी बना

सकेगा। (आप नयेपन की परिभाषा कुछ और करते हैं, तो मेरी बात मानकर उससे तुरन्त मुक्त हो जाइए, क्योंकि आज के युग में अब गलाजत-मात्र ही नयापन है !) न भ्रम में वह नहीं है। कम से कम मैं नहीं मानती कि वह भ्रम की स्थिति में रहता है। रह तो होड़ कर रहा है : जो सबसे ज्यादा अश्लील कविता लिखेगा, वह सर्वाधिक आधुनिक समझा जाएगा। यों, बगैर सोचे समझे वह हर उस वस्तु को अपनी रचना का आधार बनाने को प्रस्तुत हो जाता है, जो रचना के इसलिए इस उपयुक्त नहीं है कि उसे उसने उस स्तर पर जाना ही नहीं है, जब वह काव्य कहलायी जाती है। हिन्दी के कृतिकारों की इस प्रवृत्ति और जिद का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता, सिवाय इसके कि वह आधुनिकता को समझे बगैर आधुनिक बनने का प्रयत्न कर रहा है। इसी सिलसले में यह कहना भी गैर-वाजिब न होगा कि हिन्दी के कवि ने विदेशी काव्य-साहित्य से यह तो सीखा कि मामूली से मामूली चीज भी रचना का आधार हो सकती है, किन्तु यह नहीं सीखा कि वहाँ के रचनाकार ऊपर से नितान्त साधारण, और कभी-कभी निहायत गन्दी भी दीखने वाली वस्तु को कितने उचित सन्दर्भ में रख देते हैं कि वह फिर घृण्य अथवा अश्लील न होकर, काव्यसौन्दर्य का एक उत्कृष्ट नमूना बन जाती है। खैर···

लेकिन उन सम्पादकों को क्या कहा जाए, जो कवि को प्राप्त कम ज्यादा मान्यता से प्रभावित होकर उसकी वे रचनाएँ छापते हैं, जो अप्रकाश्य, एवं साहित्य के हित में बुरी होती हैं ? लगता है, कविताओं के चुनाव की सूझ-बूझ या तो हिन्दी के सम्पादक में नहीं है, या उसकी अपनी कोई रुचि ही नहीं है। सम्भवतः इसी सुरुचि के अभाव में वह हर उस रचना को सगर्व, पाठकों को सामने प्रस्तुत कर देता है, जिसका कृतिकार नामी-गिरामी हो; या जिसके कृतिकार को थोड़ी-सी मान्यता इस नाते मिल गयी होगी कि उसने अपने प्रारम्भिक लेखन काल में दो-तीन अच्छी रचनाएँ हिन्दी के काव्य-साहित्य की ही हैं। आज, जबकि नयी कविता का यह आन्दोलन अपने साथ विकास और पतन के तत्वों को लिये चल रहा है—हर आन्दोलन में यही होता है—सम्पादक का दायित्व बढ़ जाता है। कविता के नाम पर कविता छाप देने मात्र से उसके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती—उसे सतर्क होकर ही रचनाओं को चुनना और और प्रकाश में लाना होगा, अन्यथा भविष्य के सहित्यकारों को कठिनाई होगी —आज भी रचनाकार को कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ रहा है। किसी भी आन्दोलन के उद्देश्य की सफलता का उत्तरदायित्व उन बुद्धिमान लोगों पर होता है, जो गलत और सही, सुन्दर और असुन्दर के भेद को समझते हैं। कहना न होगा कि सम्पादक भी उन्हीं में से एक है। अतः उसका देश-विदेश के साहित्य से अभिज्ञ और सुरुचि-सम्पन्न होना एक अनिवार्यता हो जाती है। अतः, वह यदि इस ओर सावधान न हुआ, तो मुझे भय है, वे थोड़ी सी रचनाएँ, जो नयी कविता के विकास की आशा बँधाती हैं, आगे चलकर निरर्थक हो जाएँगी, क्योंकि उनमें भी शायद मुशकिल रह सकें। और इस आन्दोलन की असफलता के लिए इतिहास, कृतिकार से अधिक नहीं, तो कम-से-कम उतना ही

दोषी सम्पादक को भी ठहराएगा, क्योंकि अन्ततः सम्पादक का सर्वप्रथम दायित्व यही है कि वह ढेर में से उन चीजों को चुन ले, जो महत्वपूर्ण है, और जो भविष्य के रचनाकार के लिए गौरव की वस्तु हो सके।

—कान्ता

पुस्तकें

प्रेमचन्द की परम्परा !

अपने लेखन में **शिवप्रसाद सिंह** यदि किसी चीज के प्रति सजग हैं, तो वह है कथा-वस्तु। प्रत्येक कहानी में कोई न कोई संदेश अथवा समस्या है; और पुस्तक* के फ्लैप पर लिखी पंक्तियों के अनुसार, '**एक भी कहानी में ऐसा न लगेगा कि कहानीकार महज किसी कल्पित कथानक को सजा-सँवार कर प्रस्तुत कर रहा है।**' कथानक **कल्पित** है अथवा **वास्तविक**, इसका मेरे निकट बहुत महत्व नहीं है। वह जो भी है पाठक उस पर सहज रूप से विश्वास कर ले, इतना भर अपेक्षित है। मुझे दुःख है कि लेखक अपने पाठकों को यह विश्वास दिला सकने में समर्थ नहीं हो सका है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में प्रवादों का सहारा खूब खुल कर लिया है; और मेरी यह निश्चित धारणा है कि प्रवादों का सहारा बहुत कमजोर सहारा होता है—बल्कि, शायद सहारा नहीं होता, लँगड़ा पैर होता है, जिसे स्वयं सहारे की आवश्यकता होती है। लेखक की असमर्थता का दूसरा कारण रूढ़ विषयों का चयन है। कुछ ऐसे शाश्वत विषय हैं, जिन पर प्रायः हर कथाकार कहानियाँ लिखना चाहता है, और जो अनुचित है। संग्रह की अधिकांश कहानियों (**प्रायश्चित, पापजीवी, केवड़े का फूल, वशीकरण, उपहार, सँपेरा, हाथ का दाग, गंगा-तुलसी**, आदि) में आपको वे ही समस्याएँ और उनके वे ही निराकरण मिलेंगे, जिन्हें आप पहले भी हजार बार पढ़ चुके हैं। ये विषय अब कुछ ऐसे रूढ़ हो गये हैं, जैसे भौतिक या रसायन-शास्त्र के वे प्रयोग, जिन्हें हर विद्यार्थी ठीक उसी ढंग से करता है, जैसा उसके पहले के लोग करते थे, और उन्हीं नतीजों पर पहुँचता है, जिन पर पहले के विद्यार्थी पहुँचे थे। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार इन प्रारम्भिक प्रयोगों की सार्थकता विद्यार्थियों में वैज्ञानिक अभिरुचि पैदा करने में है, उसी प्रकार साहित्य के ये शाश्वत विषय अब केवल एक साधारण आदमी में लिखने की इच्छा भर पैदा करने के लिए रह गये हैं। शिवप्रसाद सिंह अब नये विषयों को नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें, तो अधिक उचित होगा।

प्रारम्भ में समस्या की बात उठायी गयी है। संग्रह की कहानियों को बड़ी सहजता से समस्या-प्रधान—उपदेशात्मक—कहा जा सकता है। इस दृष्टि से लेखक प्रेमचन्द की पर-

---

*कर्मनाशा की हार (कहानी-संग्रह)
शिवप्रसाद सिंह,
भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
मूल्य : तीन रुपये

म्परा में आता है, लेकिन जहाँ प्रेमचन्द का वैशिष्ट्य उनके लीक डालने में था, वहाँ शिवप्रसाद सिंह उस लीक पर चलने वाला कोई भी एक पथिक होकर रह गये हैं। महत्व आविष्कार का होता है, न कि आविष्कृत वस्तुओं के उपभोक्ता का।

किसी परम्परा में अपने आप जुड़ जाना एक बात होती है, और जुड़ने की कोशिश करना बिल्कुल दूसरी। यह दूसरा स्वभाव लेखक को कृत्रिम पात्र, कृत्रिम कथा-वस्तु और कृत्रिम भाषा का प्रयोग करने को मजबूर करता है। कथावस्तु के बनावटीपन के उदाहरण आपको प्रायः हर कहानी में मिलेंगे। **'वशीकरण'** और **'बिन्दा महराज'** अपवाद हैं। **'वशीकरण'** की सादगी **'निर्गुण'** की कहानियों की याद अनायास दिलाती हैं, और **'बिन्दा महराज'** जैसा सजीव चरित्र-चित्रण बहुत कम देखने में आता है। लेकिन मैं पात्रों की कृत्रिमता की बात करना चाहता हूँ, और वह भी उदाहरण के साथ। **'कर्मनाशा की हार'** कहानी के प्रमुख पात्र **'भैरो पाँड़े'** (जो एक साधारण कथावाचक हैं) अपने भाई के बच्चे को माँ सहित नदी में फेंके जाते देख एकाएक ही किसी नेता के चोले में घुस जाते हैं, और कहते हैं—**'कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहें बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहा कर बाँधों को ठीक करना होगा……।'** इसी के आगे एक जगह लिखा है, **'लोग अवाक् पाँड़े की ओर देख रहे थे।'**

जी, इसलिए नहीं कि पाँड़े ने कोई बहादुरी का काम कर दिखाया, बल्कि इसलिए कि एक ही रात में वे कथावाचक से नेता कैसे बन गये! पाठक भी इसी तरह अवाक् रह जाएँगे।

एक और उदाहरण 'रेती' से प्रस्तुत है। **सुमेर मल्लाह** की दार्शनिका पतोहू **गंगा बहू,** पता नहीं आपको कहाँ तक प्रभावित करती है।

'रेती तो बहुत जलती होगी, गंगा भाभी,' मैंने पूछा! **'हाँ बाबू, पर अब देर नहीं है। दशहरे से पानी बढ़ने लगा है। जल्दी ही यह डूब जाएगी, जलना तो इसका धर्म है न! भला जलती नहीं, तो इसमें इतने मीठे फल कैसे लगते ?'**

शिवप्रसाद सिंह को भाषा का जादूगर माना गया है। मुझे भी पुस्तक में जगह-जगह ऐसे तत्व मिले हैं, जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। जादूगरों को पशु-पक्षियों से विशेष प्रेम होता है। लेखक ने जादू शायद कामरूप से सीखा हैं, क्योंकि वहीं आदमी को जानवर बना देने का विशेष रिवाज है। लीजिए फिर कुछ उदाहरण :

'वह बिस्तर पर **मछली** की तरह तड़प उठी' (प्रायश्चित पृ० ३५)। 'वह बेबस **गाय** की तरह खड़ी थी' (प्रायश्चित पृ० ३६)। 'वह गूँगे की तरह **बिच्छू** के डंक की चोट सहता जाता था और बेजुबान **बैल** की तरह टुकुर-टुकुर लड़की को ताक रहा था।' (पापजीवी पृ० ३८)।

'टूरी अपने बाप की आवाज़ सुन कर **खटमल** के बच्चे की तरह गुदड़ी में चिपक जाती।' (पापजीवी पृ० ३९)। 'जल में तैरती **मछड़ी** की तरह उसकी आँसू भरी आँखों में कि सी कीगल-भर चौ छती जफूग यी, जिस पर मकोय के रंग के बाल **मधुमक्खी** की तरहकापते रहते (पाजपीवीप ३०६)

'…और बदलू बाप की उस गज-भर चौड़ी मकोय के रंग के बालों वाली छाती में बन्दर के बच्चे की तरह चिपक जाता।' (पापजीवी पृ० ४०)

'सफेद धूप…चटख धूप…साफ़ धुली धोती की तरह लटकती हुई धूप…**बतख** की तरह उजली धूप।' ('बिन्दा महराज' पहला पैराग्राफ़)

अजीब धूप को इतने कोणों से देखने वाला लेखक यदि जीवन को भी उतने ही कोणों से देखता, तो उसकी कहानियाँ अधिक सार्थक होतीं।

— **प्रबोध कुमार**

डायरी का खेल

दिल्ली की लम्बी सड़कों पर गर्मियों की दोपहर में चलते हुए दूर देखने से तारकोल पर पानी दिखायी देता है। चमकता, निखरा-सा पानी! उसमें, आने वाली बसें, कारें आदि प्रतिबिम्बित होती तक दिखायी देती है, मगर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, पानी हटता जाता है। वह पानी नहीं है, भ्रम है। मृगतृष्णा है। माया है। और माया हमेशा दिलचस्प होती है।

अक्सर यही सोचा जाता है कि लेखक का उद्देश्य इसी माया को रचना है। हो माया, पर लगे नहीं, लगे जीवन। जीवन लगे ही नहीं, ऐसा स्पष्ट एहसास हो कि दिन-प्रतिदिन के जीवन को फोड़ कर भीतर की तरलता से, भीतर की कठिनता से, उलझती-मोहती जड़ों से उस माया को परिपक्व बनाया गया है, आधार दिया गया है। जैसे इस संसार-रूपी मोहनी-माया के भीतर, अद्वैतवाद के अनुसार, परमात्मा परम सत्य है, परम आधार है। साहित्य में यह आधार मानव-मन का, या किसी भी वस्तु का, मर्म है, जो दृष्टि और कल्पना द्वारा प्रेषणीय बनाया जाता है।

"शह और मात"* में माया है। **सुजाता** एक सुन्दर, शिक्षित, अल्हड़ लड़की है, जो **उदय** नाम के कमजोर, असुन्दर, पर "युगप्रर्वतक" लेखक से प्यार करने लगती है। उदय **अपर्णा** से प्यार करता है। वह राजकुमारी है। इससे पूर्व सुजाता तेज से प्यार करती थी। लेकिन वह उसे **"तोड़"** कर विदेश चला गया, और उसने वहीं शादी कर ली। उदय भी उत्तर-प्रदेश के अपने कस्बे में एक लड़की से प्यार करता था। वह लड़की व्यावसायिक बुद्धि की है, और उदय से तब तक विवाह नहीं करना चाहती, जब तक उदय सम्पन्न नहीं हो जाता। सारी कथा बम्बई है।

माया का सामान पूरा है। दिलचस्पी बढ़ाने के लिए उपन्यास सुजाता की डायरी के रूप में लिखा गया है।

मगर ज्यों-ज्यों हम भीतर झाँकते जाते हैं, जैसे-जैसे माया की तहें खुलती जाती हैं,

---

* 'शह और मात'
राजेन्द्र यादव
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
मूल्य: चार रुपये

हमें कुछ खाली-खाली-सा अनुभव होने लगता है। और अंत में हम कह सकते हैं, **"अरे, सब कुछ क्या हुआ ? यह कहाँ टिका हुआ था ?"**

सुजाता को तेज "तोड़ कर" चला गया है। "तोड़ देना" "टूट जाना" आदि मुहावरे जिस विदेशी भाषा के हैं, उसमें भी अब इनका अर्थ कोई नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में ये आरोपित भी लगते हैं। खैर। सुजाता प्रेम में "टूटी" हुई है। लेकिन ऐसी स्थिति में उदय से पहली बार मिलने के बाद फिर मिलने की उत्कण्ठा, छटापटाहट, क्या अस्वाभाविक नहीं है ? वास्तव में सुजाता पर "टूट जाने" का कोई असर दिखायी नहीं देता। उदय के प्रति उसका प्यार पहला प्यार ही लगता है।

लेकिन ज्यों-ज्यों डायरी बढ़ती है, हमें विस्मय-सा होता है कि सुजाता जैसी अल्हड़, "मर्दाना", सुन्दर, प्रतिभाशाली लड़की उदय जैसे कमजोर, कच्चे, छोटे कद के, असुंदर आदमी के प्रति कैसे आकर्षित हो गयी ? यह प्यार कैसा है ?

यों प्रायः माना जाता है कि प्रेम का कोई कारण नहीं होता, आम मुहावरे में, प्रेम "हो" जाता है। मगर वास्तव में वह इतना सपाट नहीं होता। हमारे व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशिष्टता होती है कि हम स्वभावतः (यदि मात्र सैक्स की उत्तेजना न हो, तो) उसी व्यक्ति के, या उसी प्रकार के व्यक्ति के, प्रति आकृष्ट होते हैं, और प्रेम कर पाते हैं, जिसमें उस विशिष्टता को रेस्पान्ड करने की क्षमता होती है। स्वभाव अपनी अनुकूलता स्वयं खोजता है। यह बहुधा अनजाने भी होता है।

उदय एक निरीह, हीनता से पीड़ित, नर्वस, दयनीय प्राणी है। मगर सुजाता में ऐसी कोई बात नहीं दिखायी देती कि उसके मन में उदय के प्रति ममता उमड़ आए, कि वह मात्र्याचार (मदरिंग) करे। कहानीलेखिका के नाते आकर्षण सही लगता है। लेकिन उसका आकर्षण शायद इससे शुरू नहीं होता। उसने सुन रक्खा है कि उदय अक्सर स्त्रियों को फ़ोन करते हैं, और उसे यह भी आभास मिलता है कि बहुत-सी स्त्रियाँ उस पर **"फिदा"** हैं। और ऐसे पुरुषों के प्रति स्त्रियाँ **"भेड़-चाल"** की तरह आकृष्ट होती हैं। बात कुछ बनती दिखायी देती है।

लेकिन सुजाता जैसे व्यक्तित्व को एक परुष व्यक्तित्व से उलझना चाहिए था; खासकर, जब उसके लोकप्रिय होने के कारण, उसे विभिन्न प्रकार के पुरुषों के सम्पर्क में आना पड़ता होगा। पहले प्यार में अनुपयुक्ता हो भी सकती है, अक्सर होती भी है। मगर सुजाता जैसी समझदार लड़की दूसरी बार सोच समझ कर पैर बढ़ाएगी, कुछ कैल्कुलेटिव भी होगी; उपयुक्तता के लिए, ऐसा कुछ आभास मिलता भी है। मगर सुजाता उदय को समझती हुई भी नहीं समझती। शायद उदय, बावजूद अपनी कमजोरियों के, चालाक आदमी है। वह पल्ला नहीं पकड़वाता; खुलता नहीं।

डायरी सरकती है। उपन्यास में रोचकता आती है। माया भी खुलती है। हमें फिर विस्मय होता है। यह सुजाता क्या वास्तव में लड़की ही है ? संदेह होने लगता है, क्योंकि उसके सोचने का ढंग, मुहावरे, जीवन के प्रति विचार आदि अनेक बातें पुरुषों-जैसी हैं। पुरुष स्त्री के बारे में क्या सोचता है, उससे क्या चाहता है, इन बातों को वह अधिक

जानती है। स्त्री पुरुष को कैसे देखती है, क्या सोचती है, क्या महसूस करती है, इसे वह अधिक नहीं जानती। अर्थात् स्त्री के मन को वह कम जानती है। उसके पास शायद है भी नहीं।

असल में कुछ अजीब, बेमेल-सी माया है। हमें ताज्जुब होता है: सुजाता किस प्रकार की स्त्री है! हमें विस्मय होता है: यह उदय 'युगप्रवर्तक' साहित्यकार है! लेकिन क्या एक कमजोर, बर्बस, कच्चा, झूठा (वह सुजाता से अपर्णा को अपनी बहन बताता है।), आत्मविश्वासहीन, दीनता से पीड़ित व्यक्ति, युगप्रवर्तक हो सकता है? स्रष्टा व्यक्ति से इतना भिन्न नहीं होता।

और अपर्णा के प्रति यह जासूसी उपन्यासों-सी लुका-छिपी क्यों? शायद इसलिए कि ऐसा न किया जाता, तो उदय सुजाता को "शह" न दे पाता और अंत में सुजाता को "मात" न मिल सकती।

कोई भी पात्र कहीं टिका हुआ नहीं दीखता। सारे पात्र उखड़े हुए भी नहीं, आधार-हीन हैं। और फिर वह महान हीनता ग्रंथि उपन्यास के रोएँ-रोएँ में पुराने रोग की तरह समायी हुई है।

इन सबके बावजूद, कहीं-कहीं उपन्यास वास्तव में आनन्द देता है। सुजाता की कुछ महीन भावनाएँ, प्रतिक्रियाएँ, उसकी व्यग्रता, उसके हाव-भाव पूरी तरह मोह लेते हैं। एक दिन सुजाता उदय के "घर" जाती है। जब उदय के साथ रहने वाला उसका दोस्त मुलायम सिंह चला जाता है, तो दोनों अकेले रह जाते हैं। सुजाता सोचती है, सोचती ही नहीं, चाहती है कि कुछ हो। उसे डर भी लगता है, कहीं कुछ हो न जाए। सम्भवतः वह बलात्कार करवाना चाहती है। जब कुछ नहीं होता, वह निराश होकर लौट आती है।

एक शाम मैरीन ड्राइव की मुंडेर पर बैठे बातें करते-करते उदय और सुजाता उत्तेजित-से हो जाते हैं। उदय सुजाता के कंधे पर हाथ रख देता है। मगर इससे अधिक कुछ नहीं होता। उदय के "पौरुष" को देखते हुए दोनों घटनाएँ बहुत स्वाभाविक लगती हैं। यह बात अलग है कि हम सोचें, यह 'युगप्रवर्तक' लेखक इतना पौरुषहीन क्यों है?

सारा उपन्यास एक प्रेम-कहानी है। थोड़ा पढ़ने के बाद हम सुजाता और उदय के बारे में जो भी जानने लायक होता है, जान जाते हैं। उसके बाद कहानी आगे जरूर चलती है, पर पकती नहीं, सम्पन्न नहीं होती। जैसे हैनरी जेम्स के उपन्यासों में प्रायः कहानी तत्व बहुत कम होता है। मगर ज्यों-ज्यों उपन्यास बढ़ता है, पात्र उद्घटित होते हैं, विकसित होते हैं, बदलते हैं, उसकी नैतिक सजगता फैलती है, उनके सूक्ष्म सौंदर्य-बोध और इन्द्रिय-बोध की तहें खुलती हैं। संक्षेप में, उपन्यास एक अंकुर की तरह फूटता है और धीरे-धीरे मेह, आँधी, धूप आदि में झुकता-टूटता-बढ़ता हुआ पूरा वृत्त बन कर खड़ा हो जाता है। और हम, पाठक, इस सारी प्रक्रिया में से गुजरते हुए उसका अनुभव करते हैं।

"शह और मात" एक रोपा हुआ पौधा है, जो थोड़ा-सा बढ़ता है। उसके बाद उसको

बड़ा करने की, बढ़ाने की मेहनत जरूर है, मगर वह बढ़ता नहीं। हाँ, मेहनत जरूर सराहनीय है।

—महेन्द्र भल्ला

अनागता की आँखें

प्रस्तुत कविता-संग्रह* में कई लम्बी कविताओं के साथ एक लम्बी भूमिका भी है। भूमिका में कवि ने अपनी विकास-रेखाओं और अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। लेकिन भूमिका और कविताओं के बीच की दूरी बहुत बड़ी है। यह बात नहीं कि भूमिका में कवि ने जिन बातों की चर्चा की है, कविताओं में उन बातों का जिक्र नहीं है। स्थिति यह है कि भूमिका में कवि ने जो कुछ लिखा और स्वीकार किया है, कविताओं में वह उसे ठीक से प्रस्तुत नहीं कर पाया है। और यह स्थिति कई कारणों से है।

संग्रह की कविताएँ पढ़ते ही जो प्रभाव मन पर पड़ता है, वह यह कि कवि अत्यधिक संवेदनशील और भावुक है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में आज के युग की विषमताओं को उभारकर सामने रख देने और पाठक के मन में बहुत सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। क्योंकि जहाँ अत्यधिक संवेदनशील होना एक बहुत बड़ा गुण है, वहीं अत्यधिक भावुक होना, भावुकतावश गंभीर स्थितियों को झुठलाना, और उनके प्रति गंभीर न हो पाना एक दोष भी है। मैं यह बात इस अर्थ में कह रहा हूँ कि अत्यधिक भावुकता के कारण गहरी संवेदनशीलता भी रचना को महत्व प्रदान करने में असफल हो जाती है। अत्यधिक भावुक चित्रणों के कारण उनके पीछे छिपी गहरी संवेदनशीलता भी **'भावुकता का एक अंश'** मालूम होने लगती है। शायद ऐसा इसीलिए होता है कि स्थितियों के प्रति अत्यधिक भावुकता, उन स्थितियों को भी 'भावुक' बना देती है; और पाठक को सारी चीजें, बहुत पास की होती हुई भी, बहुत दूर की, या तिरती-तिरती-सी लगने लगती हैं। इस संदर्भ में हम संग्रह की कविताओं को देखें, तो हमें लगेगा कि वीरेन्द्रकुमार जैन ने इस स्थिति के बावजूद भी एक प्रकार की सफलता प्राप्त की है। और वह सफलता है स्थितियों और समस्याओं को संवेदनशीलता और जिज्ञासा के भाव के साथ प्रस्तुत कर पाठकों के मन में भी उन स्थितियों और समस्याओं के प्रति एक हल्की-सी जिज्ञासा पैदा कर देने की। यही नहीं, प्रस्तुत कविताओं का महत्व इसलिए भी है कि यह कविता के पाठकों के लिए एक प्रकार की विचार-भूमि तैयार करती हैं। ये कविताएँ किसी 'वाद' या किसी विशेष प्रकार की धारा से जुड़ी हुई नहीं हैं। इसलिए ये कविताएँ, कविता के हर तरह के पाठकों के लिए 'सर्वसुलभ' हैं।

इन कविताओं में कवि अपने पूरे आवेगों-संवेगों के साथ उपस्थित है। लेकिन शायद इसीलिए संग्रह की कविताएँ बिखर गयी हैं। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि आवेगों और संवेगों की कविताएँ अच्छी नहीं होतीं; बल्कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि इनके साथ-साथ किसी संगीत की भी अपेक्षा होती है। आज पाठक किसी चीज को पढ़ कर केवल थोड़ी

---

*अनागता की आँखें। वीरेन्द्र कुमार जैन। सुप्रभात प्रकाशन, कलकत्ता

देर का सुख उठाना नहीं चाहता, वह रचनाओं से विचारों और 'कारणों' की भी माँग करता है। इसलिए,

> ···सेंट—लवेंडर की सुनीली गंध में
> विगत की उस दूरान्त साँझ का
> केवड़ई किनारा झलक आया······

पंक्तियाँ पढ़ कर उसके मन में संभवतः कुछ भी 'ग्रहण' न होने का भाव उठेगा। यही नहीं, **'गोरे गुलाबी नाखून से छिलती नारंगी'** शीर्षक कविता, अधिकांश पाठकों को, उसमें चित्रित युद्ध-शांति और निर्माण की समस्याओं के बावजूद, बहुत दूर की-सी चीज लगेगी। और ऐसा इसीलए होगा कि कवि कविताएँ लिखते समय, अत्यधिक भावुकतावश न तो स्वाभाविक उपमाएँ दे पाता है, न अनावश्यक बातों को कविताओं से निकाल पाता है।

वर्तमान युग की विषमताओं, विशेष कर अपने यहाँ की विषमताओं को, व्यक्त करने के लिए आज एक बिलकुल दूसरी तरह की भाषा और संयम की आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि वीरेन्द्र कुमार जैन स्थिति से अनभिज्ञ हैं। भूमिका में वह स्वयं लिखते हैं: **'मैं तो बीसवीं सदी के शोषित-पीड़ित मध्यवर्ग में कवि की सुकोमल संवेदनशील आत्मा और वस्तु के आरपार देखने के लिए तड़पने वाली तीव्र चिन्तन-चेतना लेकर पैदा हुआ था······एक ओर मानव-अस्तित्व की सर्वस्वहारिणी सामाजिक और आर्थिक बेबसियाँ थीं, तो दूसरी ओर मानव-भाग्य की अन्तिम विकलता और पराजयों का नग्न साक्षात्कार था······।'** कवि की इस स्वीकारोक्ति के बावजूद जब हम बार-बार केवल प्रकृति के कुछ तिरते-तिरते चित्र, और बार-बार अलंकारिक ढंग से कही गयी रूमानी बातें पाते हैं, तो अजीब-सा लगता है। **मध्यवर्ग की तीव्र-चिन्तन चेतना से निश्चय ही 'मेरे ये फूलदार मनीला शर्ट' 'मेरी ममता के एकान्त गोपन कक्ष में' 'छाया महफिल और जापानी बँगला'** तथा **'अनामा, भिडियाँ और नदी'** आदि कविताएँ अपेक्षित नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी कविताओं में **'तीव्र चिंतन-चेतना'** की झलक बिलकुल ही नहीं मिलती; लेकिन अत्यधिक भावुकतावश वह कविताओं से अनावश्यक चीजें निकालना भूल जाते हैं, और रूमानी शब्दों में **'तीव्र चिंतन-चेतना'** खो गयी-सी मालूम पड़ती है।

बहुत बार वह बिलकुल दो अलग बातों और दो अलग छोरों को मिलाने का काम बड़े-बड़े शब्दों से लेना चाहते हैं, और वे बड़े-बड़े शब्द कविताओं में बिखराव का कारण बनते हैं। अध्यात्म और भौतिकता की बातों को जल्दी से एक साथ मिलाने —प्रस्तुत करने—के प्रयत्न में उन्होंने अपनी कई कविताओं में बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग किया है। और इस तरह के शब्दों के कारण बहुत बार अनजाने ही दो विरोधी बातें उपस्थित हो गयी हैं।

मूलतः वीरेन्द्रकुमार जैन अच्छे कवि हैं। पर वह अपनी कविताओं में, शिल्प के संबंध में शायद बहुत सजग नहीं हैं। कहीं-कहीं तो उनकी कविता एक-सी गयी मालूम पड़ती है। जैसे ये पंक्तियाँ;

राग भरी, रंग भरी, उछाह-उमंग भरी,
नित नवीन, यौवन वसन्त भरी
गानमयी, छन्दमयी, नृत्यमयी
नाना देश, नाना जाति, वर्ण-वर्ण विचित्र
रुपलेखाएँ, छविछायाएँ, मुद्राएँ,
जलवायु, ऋतुमाया, धूप छाया···

या,

कंकड़,
कंकड़ पर एक तिनका,
तिनके पर रेंगती एक चींटी···

यह सही है कि इन पंक्तियों के आगे-पीछे और भी पंक्तियाँ हैं, पर इस तथ्य के बावजूद इस तरह की पंक्तियों को कविता की पंक्तियाँ मानना कठिन जान पड़ता है।

वीरेन्द्रकुमार जैन अच्छे कवि हैं। और वह चाहें, तो जरा-सी सावधानी बरतने पर अपनी कविताओं में अपने 'अच्छे कवि' को उपस्थित कर सकते हैं। यह उनके लिए कुछ कठिन भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कहते हैं :

मेरा न लक्ष्य निर्वाण अरे
मैं ही चिर-जीवन का साधक
मैं अरे अनन्तों के भीतर
नित-नव सर्जन का आराधक।

उनकी एक दूसरी कविता की ये पंक्तियाँ भी :

मैं इस धड़कते, कसकते, मचलते
जीवन की धरती पर
युद्धों, विनाशों, विषमताओं के दुश्चक्र तोड़कर
मानव-मानव के बीच
जीवन, शांति, समता औ,
सम्वादिता लाना चाहता हूँ।

कुल मिला कर यह संग्रह वीरेन्द्रकुमार जैन की संवेदनशीलता, उनके कवित्व और विश्व और मानवता के प्रति उनकी मंगल-कामना को प्रस्तुत करता है। मेरी तरह हर पाठक की यही कामना होगी कि वीरेन्द्रकुमार जैन अपने कवि की सुकोमल संवेदनशील आत्मा, और वस्तु के आर-पार देखने के लिए तड़पने वाली **'तीव्र चिन्तन चेतना'** का उपयोग **'मानव अस्तित्व की सर्वस्वहारिणी सामाजिक और आर्थिक बेबसियों'** के चित्रण और उनके उन्मूलन के लिए अधिक से अधिक करें।

—प्रयाग शुक्ल

कलाकृति का यथार्थ

[हमारे लेखकों और पाठकों के विचारार्थ 'कलाकृति का यथार्थ' विषय प्रस्तुत है। 'कृति' के आगामी अंकों में हम इस विषय पर प्राप्त विचार प्रकाशित करेंगे।
—सम्पादक]

कॉलिन विल्सन ने एक बार कहा था : सोवियत साहित्य जैसी कोई चीज नहीं। यह एक अत्युक्ति है, जैसे कॉलिन विल्सन और उनकी क्षुब्ध पीढ़ी का समूचा साहित्य एक अत्युक्ति है।

प्रश्न यह है कि सोवियत साहित्य से अभिप्राय क्या है ? क्या **पुश्किन** से लेकर **शोलोखोव** तक की समूची साहित्यिक परम्परा या क्रांति के बाद का रूसी साहित्य ? सोवियत साहित्य स्वयं एक नयी संज्ञा है और क्रांति के बाद की कलाकृतियों के अर्थ में ही इसका प्रयोग किया गया था।

अगर **गोर्की, शोलोखोव** और **मायकावस्की**, कलाकार हैं, तो मानना पड़ेगा कि सोवियत साहित्य जैसी भी कोई चीज है; अगर नहीं, तो कॉलिन विल्सन का कथन, अत्युक्ति नहीं।

बात केवल कॉलिन विल्सन की नहीं, उन तमाम पश्चिमी लेखकों और विचारकों की है, जिनके सामने यह प्रश्न अपनी समूची जटिलता के साथ उपस्थित है : **कोई अच्छा लेखक कम्यूनिस्ट कैसे हो सकता है और अगर वह कम्यूनिस्ट है तो अच्छा लेखक कैसे हो सकता है ?**

कुछ लोग उनके इस विवाद को शीतयुद्ध की एक उद्भावना कहकर संतुष्ट हो सकते हैं ! मैं यह मानता हूँ कि इस प्रकार के शंकालु महानुभावों में अनेक ईमानदार लेखक भी है और उनकी यह शंका हार्दिक है; किसी प्रकार की राजनीति नहीं। अतः इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाना चाहिए।

सबसे ताजा उदाहरण **बर्तोल्त ब्रेख्त** का है। ब्रेख्त, बीसवीं सदी के थियेटर के सबसे आकर्षक व्यक्तित्व थे। वह एक सक्रिय जर्मन कम्युनिस्ट कवि और नाटककार थे। युद्ध के बाद, उन्होंने पूर्वी जर्मनी को अपना कार्यक्षेत्र चुना। उनका यह निर्णय किसी दबाववश नहीं था, बल्कि स्वैच्छिक था। ब्रेख्त का विश्वास था कि पूर्वी जर्मनी में उन्हें एक अधिक व्यावहारिक स्वाधीनता उपलब्ध होगी। मृत्युपर्यन्त ब्रेख्त पार्टी के कार्यकर्ता रहे। ब्रेख्त की

लोकप्रियता केवल पूर्वी जर्मनी में ही नहीं है, बल्कि पश्चिमी जर्मनी में भी उनका थियेटर उतना ही लोकप्रिय है। साम्यवाद विरोधी क्षेत्रों में भी ब्रेख्त की गणना एक प्रमुख एवम् अत्यधिक प्रभावशाली साहित्यिक व्यक्तित्व में होती है। मगर यह एक अंतर्विरोध है। अच्छा लेखक, कम्यूनिस्ट कैसे हो सकता है। और अगर वह कम्युनिस्ट है तो अच्छा लेखक कैसे हो सकता है ?

अतः ब्रेख्त के जीवनीकार **मार्टिन ईसलिन** ने अपनी पुस्तक [**ब्रेख्त : ए चॉएस आफ ईविल्स**] में अविष्कार कर डाला कि ब्रेख्त कम्युनिस्ट नहीं थे। इस समग्र पुस्तक का तर्क यह है : **कोई भी महान् कलाकार अच्छा कम्यूनिस्ट नहीं हो सकता। ब्रेख्त महान् कलाकार थे, इसलिए ब्रेख्त अच्छे कम्यूनिस्ट नहीं थे।**

ग्रन्थ में उद्धृत ब्रेख्त सम्बंधी भ्रामक और प्रसंगच्युत तथ्यों और वक्तव्यों की चर्चा यदि न भी की जाए; तो ईस्लिन की आलोचना-पद्धति का विकार स्पष्ट कर ही यह प्रमाणित किया जा सकता है कि ब्रेख्त जिस सीमा तक महान् कलाकार थे, उसी सीमा तक महान् कम्यूनिस्ट भी थे। उनकी कला और उनका साम्यवाद दो अलग-अलग चीजें न थीं। ब्रेख्त का समूचा कृतित्व उनके अनुभव और धारणा की कारीगरी है और उनके अनुभव और उनकी धारणा में कहीं कोई अंतर्विरोध नहीं।

मगर ईसलिन को यह यथार्थ स्वीकार नहीं। उनकी दृष्टि में **"कवि के सुचिन्तित अभिप्रेतों और उसकी कृति के अचेतन, रागात्मक पदार्थ के बीच तनाव ही, ब्रेख्त की काव्य-शक्ति का स्रोत है।"**

स्पष्ट है कि ऐसा स्रोत कम से कम कम्युनिस्ट साहित्य की उद्भावना नहीं कर सकता। इसलिए ईसलिन इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रेख्त के नाटकों की केन्द्रीय भावना, **विवेक और प्रवृत्ति के बीच संघर्ष है। धारणावादी** ब्रेख्त ने यदि अपनी कृतियों की यह व्याख्या देखी होती, तो उनकी इस धारणा को और भी बल मिला होता कि बोर्जुआ आलोचक न केवल एक क्रांतिकारी समाज को, बल्कि क्रांतिकारी सामाजिकता से उत्पन्न कलाकृति को भी, दूषित संदर्भ में रखकर देखता है।

ईसलिन ने अपने मत की पुष्टि के लिए ब्रेख्त के नाटक **"ड्रम्स इन दि नाइट"** और **"दि एक्सेप्सन एण्ड दि रूल"** प्रस्तुत किया है; जब कि ये दोनों ही नाटक वर्ग-संघर्ष की चेतना से उद्भूत हैं। "ड्रम्स इन दि नाइट" १६१६ की जर्मन क्रांति और उसकी असफलता पर आधारित एक ऐतिहासिक नाटक है। फौज और अफरीका से लौटे, नायक **क्रेगलर** के सामने विकल्प है : वह क्रांति की दिशा में उन्मुख हो जाए या अपनी वाग्दत्ता से विवाह कर ले। अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा क्रेगलर विवाह-जीवन की ओर मुड़ जाता है। ईसलिन इसकी व्याख्या विवेक पर प्रवृत्ति की विजय के रूप में करते हैं, जब कि ब्रेख्त ने यहाँ क्रांति की असफलता के ऐतिहासिक कारणों को स्पष्ट करने के लिए, अविकसित क्रांतिकारी व्यक्तित्व की प्रतीक-योजना की है।

ठीक इसी प्रकार ब्रेख्त ने अपने इतिवृत्तात्मक नाटक **"दि एक्सेप्सन एण्ड दि रूल"** में एक कुली और एक व्यापारी के अनवरत् संघर्ष के जरिए स्पष्ट ही अपनी धारणा अग्रसर की

है कि वर्ग-विभक्त समाज में मनुष्य के सम्पूर्ण मानवीय विकास की संभावना नहीं। मार्क्स-वाद का एक अध्येता यह बता सकता है कि ब्रेख्त का यह इतिवृत्तात्मक नाटक वर्ग-संघर्ष की ही थीसिस है। मगर ईसलिन इस तथ्य से भी इंकार करते हैं और वह यहाँ भी विवेक और प्रवृत्ति का संघर्ष ढूंढ़ लेते हैं।

इस प्रकार वह कलाकृति के यथार्थ से आँख चुराते हैं। कारण! यदि वह इस यथार्थ को स्वीकार करते हैं, तो उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कम्यूनिस्ट साहित्य भी महान् साहित्य हो सकता है। जाहिर है कि ईसलिन और उनके मित्र इस सीमा तक उदार नहीं हैं। उनकी राजनैतिक मान्यताएँ, चाहे उनके रस-बोध में बाधक न हों; कृति की वैज्ञानिक व्याख्या में अवश्य बाधक हैं।

राजनैतिक ध्रुवीकरण के इस युग में, कलाकृति के आस्वादन तथा सच्चे मूल्यांकन के लिए, यह आवश्यक है कि पाठक अपने राजनैतिक पूर्वग्रहों और धारणाओं से तटस्थ होकर, कलाकृति के यथार्थ को स्वीकार करे।

मार्क्स ने लिखा था, **कम्युनिस्ट लेखकों को बोर्जुआ साहित्य की उपलब्धियाँ ग्रहण करनी चाहिए।** मगर वह मार्क्स की सीख थी, किसी बोर्जुआ आलोचक की नहीं। किस बोर्जुआ आलोचक ने कहा है: बोर्जुआ लेखकों को, कम्युनिस्ट साहित्य की उपलब्धियाँ ग्रहण करनी चाहिए? वह ऐसा कह भी नहीं सकता; वह इस भयंकर यथार्थ को नहीं स्वीकार कर सकता। वह शुतुर्मुग की तरह रेत में मुँह गड़ाकर, इस यथार्थ के अस्तित्व से ही इंकार करना चाहता है। मगर यह कलाकृति का यथार्थ है; यह अधिक जटिल और दूरव्यापी होता है।

[२]

इस स्थिति का प्रतिपक्ष भी है: **मानव-मन के अस्तित्व से इंकार और कला के दायित्व से पलायन।** चीन के पार्टी-लेखक,—जिनकी दृष्टि में संसार का शेष प्रगतिशील साहित्य पुनरीक्षणवादी है—कुछ यही कार्य कर रहे हैं; डंके की चोट पर कर रहे हैं। अभी गत मास, लेखकों और कलाकारों की तृतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में, लेखक यूनियन के अध्यक्ष माओ तुन ने एक विचारणीय भाषण दिया है। पुनरीक्षणवादियों पर कटु प्रहार करते हुए, माओ तुन ने, लेखकों और कलाकारों के सामने यह थीसिस पेश की कि **वह साहित्य अनिवार्यतः जन-विरोधी होगा जिसमें चरित्र मानसिक द्वन्द्व तथा अंतर्विरोध से गुँथे हुए होंगे।** अर्थात् साहित्य सपाट होगा, क्योंकि मनुष्य भी सपाट है। शायद वह यह कहना चाहते हैं कि कम्यूनिस्ट व्यवस्था में —कम से कम चीन की कम्यूनिस्ट व्यवस्था में—मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न विकास के लिए, कोई स्थान नहीं रह गया! क्या इसे सच मान लिया जाए? पर माओ तुन, इस कला के इस सरलीकृत समाधान से संतुष्ट हो सकते हैं; कला इससे संतुष्ट नहीं होगी। जब तक मनुष्य है, तब तक उसका मन होगा और जब तक मानव-मन है, तब तक अंतर्द्वन्द्व होगा, अंतर्विरोध होगा, जटिलता होगी और फलस्वरूप कला जटिल होगी, मानव-मन के द्वन्द्व से संयुक्त होगी। अन्तर्द्वन्द्व पशु में नहीं होता, क्योंकि पशु के

मन नहीं होता । साम्यवाद के विरोधी, साम्यवादी देशों को 'एनीमल फार्म' मानते रहें; हम ऐसा नहीं मानते । हम मानते हैं, जनवादी व्यवस्थाओं में मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास की संभावनाएँ कहीं अधिक हैं और इसीलिए हम मानते हैं कि जनवादी देशों के साहित्य में मानव-मन की विविध दशाओं, मानवीय अन्तर्संघर्षों और चारित्रिक जटिलताओं के लिए अधिक से अधिक जगह होनी चाहिए ।

मगर माओ तुन की दृष्टि में यह तर्क नितान्त प्रतिक्रियावादी है ।

साहित्य में निजी शिल्प, नवीनता और अद्वितीयता, रूपवाद की अंधी गली की ओर अग्रसर होती है : यह माओ तुन का परीक्षणीय मत है । इस तर्क को स्वीकार कर लेने के उपरान्त केवल यह मान लेना भर शेष रह जाता है कि संसार का सारा महान् साहित्य रूपवादी है, क्योंकि उसमें निजी शिल्प है, नवीनता है, और अद्वितीयता है ।

अपने प्रख्यात भाषण—जो बाद में **"माओत्से तुंग के साहित्य और कला विषयक विचारों का झंडा ऊँचा करो"** पैम्फलेट के नाम से प्रकाशित हुआ—में चीन के संस्कृति उपमंत्री **लिन मो-हैन** ने भी बिल्कुल ठीक यही मत प्रतिपादित किया था । **"साहित्य और कला, क्रांति की मशीन में फिट पुर्जे हैं, क्रांति का नेतृत्व पार्टी करती है । अत: कला पार्टी के विचार और प्रचार का साधन है । जो कला पार्टी-दायित्व को स्वीकार नहीं करती, वह पुनरीक्षणवादी है ।"**

संभव है । पर प्रश्न यह है, यह तथाकथित पुनरीक्षणवादी कला भी कला है या नहीं ? वह उसे कला नहीं मानते । कला की कसौटी ही पार्टी है । अपने मत की पुष्टि के लिए वह **लेनिन** को उद्धृत करते हैं : **"कला और साहित्य की आलोचना के लिए दो कसौटियाँ होंगी, राजनैतिक और कलात्मक । हमें राजनैतिक कसौटी को प्राथमिकता और प्रमुखता देनी होगी ।"** अत: जो कला राजनीति की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, वह कला नहीं है । इस प्रकार वह कला में सन्निहित सामाजिक यथार्थ को काटकर, पार्टी के चौखटे में फिट कर देना चाहते हैं । यह यथार्थ से ठीक वैसा ही पलायन है, जैसा पश्चिम के बुर्जुआ साहित्य का ।

यूगोस्लाविया के कम्यूनिस्ट, जब इस उग्र धारणा का विरोध करते हैं, तो चीनी इसे ह्रासग्रस्त पुनरीक्षणवाद संबोधित कर, इसकी भर्त्सना करते हैं । किंतु युगोस्लाविया के पुनरीक्षणवादियों की यह धारणा, सत्य के अधिक निकट है कि कला और राज्य में अंतर्विरोध हो सकता है । क्या, इसके उदाहरण देने की आवश्यकता है ?

अपनी धारणा में, चीन के कम्यूनिस्ट लेखकों से कहीं अधिक वैज्ञानिक, हंगेरियन कम्यूनिस्ट आलोचक **जार्ज लूकाच** को, गृह-युद्ध के समय, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या महत्व-कांक्षावश नहीं, बल्कि जनवादी कला के ही नाम पर राज्य का सक्रिय विरोध करने को विवश होना पड़ा; यह किस पार्टी-थीसिस के अनुसार राज्य और कला के बीच अंतर्विरोध नहीं है ? बहस का विषय, हंगरी की घटनाओं का औचित्य-अनौचित्य नहीं, बल्कि यह है कि राज्य और कला में विरोध हो सकता है या नहीं ! सोवियत रूस में इन दिनों प्रकाशित अनेक पुस्तकें, इसके प्रमाणस्वरूप रखी जा सकती हैं ।

एक साधारण लेखक दुदनित्सेव की साधारण कृति 'नाट बाइ ब्रेड एलोन' भी इस अंतर्विरोध का आधार बन सकती है। बल्कि यह अन्तर्विरोध, कला या राज्य के लिए हमेशा ही कल्याणकारी हो, यह चाहे अनिवार्य न हो; पर कभी-कभी, राज्य-सत्ता के विकास और किसी समाज की कलात्मक चेतना के परिष्कार की किसी विशेष स्थिति में यह दोनों के लिए उपयोगी हो सकता है। गत वर्ष सोवियत लेखकों की कांग्रेस में भाषण देते हुए, ख़ुश्चेव ने, इस कृति की एकांगिता पर प्रकाश डालते हुए भी, जिस सहानुभूति के साथ विचार किया था, क्या वह इस बात का द्योतक नहीं कि एक साम्यवादी व्यवस्था में भी यह अन्तर्विरोध कल्याणकारी हो सकता है।

लेनिन और माओत्से तुंग की विचार-परम्परा को समृद्ध करने वाले, चीनी कम्युनिस्ट लेखक यह भूल जाते हैं कि १६०५ में प्रकाशित लेनिन की थीसिस "पार्टी का संगठन और पार्टी का साहित्य," क्रांति की एक विशेष स्थिति से गुजरते समाज में प्रतिफलित साहित्य की अनिवार्यता को प्रतिबिम्बित करता है; वह हर देश, हर काल, हर समाज का सत्य नहीं। लेनिन ने तो अपने प्रबंध, "पूँजीवाद की सर्वोच्च स्थिति साम्राज्यवाद" में, पूँजीवाद और साम्यवाद के सह-अस्तित्व की असंभवता भी घोषित की थी। पर क्या यह बताने की आवश्यकता है कि आज यदि यह सह-अस्तित्व संभव नहीं, तो मनुष्यता का अस्तित्व भी संभव नहीं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि लेनिन का आह्वान साहित्य से अधिक, पार्टी की आवश्यकता का आह्वान था। साहित्य, पार्टी के लिए एक आवश्यकता है; पर पार्टी भी साहित्य के लिए, अनिवार्यत: एक आवश्यकता ही हो, ऐसा नहीं होता। जब समाज का यथार्थ पार्टी के फ्रेम से बड़ा हो जाता है और जब सैद्धांतिक सरलीकरण, सामाजिक जटिलता को नहीं झेल पाता, तो साहित्य की अनुभूति का पार्टी की अनुभूति से समरसता न रखना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता, मगर अक्सर यही होता है। इसीलिए सोवियत साहित्य जैसी चीज है, चीनी साहित्य जैसी चीज है, कम्यूनिस्ट साहित्य जैसी चीज है; मगर पार्टी-साहित्य जैसी कोई चीज नहीं। जैसे पार्टी यथार्थ जैसी कोई चीज नहीं, वैसे ही पार्टी-साहित्य जैसी भी कोई चीज नहीं।

—**प्रवेशकुमार माथुर**

टिप्पणियाँ

फ्रीडम और फाउन्डेशन

बुद्धिजीवियों और नागरिकों की सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए समर्पित मासिक पत्र **'एनकाउन्टर'**, उन थोड़े से पत्रों में से है, जिनमें प्रकाशित सामग्री, पक्ष-प्रतिपक्ष में, गंभीरता के साथ विचार करने के लिए उत्तेजित करती है। यह मामूली सफलता नहीं। ऐसे कितने पत्र हैं ! सफल पत्र 'एनकाउन्टर' का प्रकाशन, **'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम'** की अंतर्राष्ट्रीय समिति करती है और सम्पादन, प्रख्यात ब्रिटिश कवि **स्टीफेन स्पेन्डर** तथा **मेल्विन जे० लास्की**। हिन्दी पाठकों को यह बताने की आवश्यकता है कि स्पेन्डर, पहले एक कम्यूनिस्ट कवि-कार्यकर्ता और बाद में एक कम्यूनिस्ट-विरोधी स्वतंत्र विचारक और पत्रकार के रूप में मशहूर रहे हैं। ब्रिटेन और यूरोप में, बुद्धिजीवियों का एक कम्यूनिस्ट-विरोधी मंच तैयार करने में, स्टीफेन स्पेन्डर ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

इस प्रकार 'एनकाउन्टर' के सम्पादकों तथा प्रकाशकों में इस एक विषय पर, कोई मतभेद नहीं। कम से कम यहाँ पत्रकार तथा लेखक बुद्धिजीवियों की स्वाधीनता के खतरे में पड़ने की कोई संभावना नहीं। पर इसे क्या कहा जाए कि तथ्य इससे सहमत नहीं और बुद्धिजीवियों के सामने फिर एक प्रश्नचिह्न खड़ा है कि अपनी स्वाधीनता के मानव-अधिकार की अभिव्यक्ति के लिए, किस मंच का आश्रय लें। क्या बुद्धिजीवियों की सांस्कृतिक स्वाधीनता का यह प्रश्न, एक हवाई प्रश्न बनकर रह जाएगा या सचमुच ही वह एक अतिरंजित प्रश्नमात्र है ?

सम्पादक स्टीफेन स्पेन्डर के एक भूतपूर्व सहयोगी **ड्वाइट मैकडानल्ड** ने गत वर्ष, अपना एक लेख **'अमेरिका ! अमेरिका !'** 'एनकाउन्टर' में प्रकाशनार्थ भेजा था। लेख स्वीकृत नहीं हुआ। किसी लेख का अस्वीकृत होना कोई असाधारण बात नहीं, असाधारण होते हैं वे आधार, जो अस्वीकृति का वायस बनते हैं।

ड्वाइट मैकडानल्ड ने **'यूनिवर्सिटीज एण्ड लेफ्ट रिव्यू'** में इस विषय पर अपना एक पत्र प्रकाशित कराते हुए, सन्देह व्यक्त किया कि पत्र. संस्था के आदेशों पर चलने लगा है ! यह पत्र के एक निकट के लेखक का संदेह था। प्रतिवाद में पत्र के सम्पादकों और कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के सेक्रेटरी जनरल **निकोलस नोबोकोव** ने, इस संदेह तथा आरोप को निराधार बताया।

'लेफ्ट रिव्यू' में ही प्रकाशित, ड्वाइट मैकडानल्ड का प्रत्युत्तर है कि उनका **आरोप**

उक्त रचना-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार के दौरान में, एक से अधिक बार, इस आशय के सम्पादकीय नोट भेजे गये कि **इस लेख के प्रकाशन से कांग्रेस और अमरीकन फाउन्डेशन के पारस्परिक सम्बन्धों में विकार उत्पन्न हो सकता है।** इससे बड़ा व्यंग्य क्या हो सकता है कि स्वाधीनता की जिस भावना को इतने बुद्धिजीवियों का बल प्राप्त है, वह अमरीका के नगरसेठ की नाराजी नहीं मोल ले सकती। कारण ! स्वाधीनता के इस युद्ध में फाउन्डेशन के डालर भी 'इनवेस्टेड' हैं। ड्वाइट मैकडानल्ड की स्वाधीनता बड़ी हुई या फाउन्डेशन के डालर ?

मानव-अधिकारों के समर्थक एक अन्य नगरसेठ हैं, पश्चिमी जर्मनी के **क्रुप्प**। **हिटलर** के फासिस्त जर्मनी के निर्माण में भी क्रुप्प का ऐतिहासिक योगदान रहा और **आदेनावर** के साम्यवाद-विरोधी जर्मनी का निर्माण भी, क्रुप्प के हाथों हो रहा है। क्रुप्प युद्ध के पहले भी थे, क्रुप्प युद्ध के बाद भी हैं। क्रुप्प हमेशा रहेंगे। और जब तक क्रुप्प रहेंगे तब तक 'नैतिक पुर्नशस्त्रीकरण रहेगा।' शस्त्रीकरण किसी न किसी रूप में हमेशा मौजूद रहेगा। नैतिक पुर्नशस्त्रीकरण संस्था [एम० आर० ए०] के संस्थापक डा० फ्रैंक बुकमैन भी मानव-अधिकारों के योद्धा हैं तथा सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए, किसी न किसी रूप में उनकी भी लड़ाई जारी है। यह लड़ाई बहुत पुरानी है, युद्ध से भी पहले की है। डा० बुकमैन मानव-नैतिकता के उन योद्धाओं में से हैं, जो अपने लक्ष्य के लिए, हिटलर की भी स्तुति कर सकते हैं। डा० बुकमैन ने सन् १९३६ में ही कहा था : **"भगवान को धन्यवाद है, जिसने कम्यूनिस्टों के ईसा-विरोध को मोर्चा देने के लिए एडाल्फ हिटलर जैसे व्यक्ति को भेजा।"** अवतारी डा० बुकमैन ने एक अन्य अवतार हिटलर का अभिनंदन किया, तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है : अब यूरोप के नव-फासिस्त, डा० बुकमैन का अभिनंदन कर रहे हैं।

यूरोप की नयी राजनीति **क्रुप्प, आदेनावर, देगाल** की है; घोर दक्षिण-पंथ की है। इस दक्षिण-पंथ में ही, संसार को सर्वनाश की ओर ढकेल देने वाले नव-फासिस्ट छुपे हुए हैं। अच्छा होता, यदि सांस्कृतिक स्वाधीनता के मुखपत्र 'एनकाउन्टर' ने इस दक्षिण-मुख नव-फासिस्ट शक्ति के अभ्युदय का विरोध भी संयोजित किया होता। किसी भी प्रकार की स्वाधीनता को सबसे बड़ा खतरा, कम्यूनिज्म से है या फासिज्म से ! इसका सही उत्तर, दूर जाने की जरूरत, **जार्ज कैनन** से ही मिल सकता है।......मगर, भगवान को धन्यवाद है जिसने फाउन्डेशन-विरोध को मोर्चा देने के लिए, एडाल्फ हिटलर के अनुयायियों को भेजा।

इन सबके बाद भी 'एनकाउन्टर' एक उदार पत्र है, उस सीमा तक, जिस तक फाउंडेशन के हितों पर कुठाराघात नहीं होता। हमारे देश में प्रकाशित, इस प्रकार के पत्र, इस सीमा तक भी उदार नहीं। 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' की भारतीय समिति द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी त्रैमासिक **'क्वेस्ट'** का एक अंक ही, किसी अभारतीय के मन में भारत विषयक पूर्वग्रह उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होगा। भारतीय मन और भारतीय संस्कृति का जैसा परिचय इस पत्र में दिया जा रहा है और विदेशी बाजार से लेकर स्वतन्त्र दल का जैसा

गुणगान किया जा रहा है, वह यह प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट है कि 'क्वेस्ट' किसके हितों का प्रतिनिधित्व करता है ?

इन हितों का प्रतिनिधित्व और भी लोग कर रहे हैं। बात-बात में जिस प्रकार वे कला और संस्कृति की दुहाई दे रहे हैं, उसे देखकर भय होता है कहीं ऐसा तो नहीं है कि कला केवल नगरसेठों और उनके दरबारियों की चीज होकर रह गई है। पर इस कला की भी राजनीति है। कला और संस्कृति के लोकपत्र 'धर्मयुग' के १० जुलाई १६६० के अंक में, नागा-विद्रोही फिजो पर एक सचित्र लेख प्रकाशित होता है, जिसमें फिजो को 'हीरो' बनाया जाता है। इससे पहले किसी भी नागा नेता ने नागा जाति की स्वाधीनता का इतना सफल और सशक्त नारा बुलन्द नहीं किया था।' [पृष्ट ७ : द्वितीय पैराग्राफ]

'धर्मयुग' देश का अकेला पत्र है, जिसमें इस राष्ट्र-विरोधी प्रचार को ससम्मान स्थान दिया गया है। स्वाधीनता की यह एक सर्वथा नयी व्याख्या है।

मगर इसकी एक दूसरी व्याख्या भी है। अमरीकी जेट-विमान यू-२ की जिस घटना ने संसार को एकाएक ही विश्वयुद्ध के द्वार पर खड़ा कर दिया 'धर्मयुग' [२२ मई १६६०] ने उसका एक मानव-पक्ष ढूँढ़ निकाला। "···इसका एक मानव-पहलू भी उभर कर सामने आया है। उक्त विमान चालक फ्रांसिस गेरी पावर्स के पिता ओलिवर पावर्स ने खु्श्चेव से अपील की है कि वे उसे बिना कोई नुकसान पहुँचाए रिहा करने की उदारता दिखाएँ, क्योंकि उसने वैसा कोई काम नहीं किया है। पावर्स ने यह कह कर कि खु्श्चेव के समान ही १५ वर्ष पहले वह भी कोयले की खान में काम करने वाला एक मजदूर था और उसी हैसियत से वह यह अपील कर रहा है, खु्श्चेव के हृदय के एक कोने में दबी हुई मानवीय भावना को उभाड़ने का प्रयत्न किया है। क्या इसमें उसे सफलता प्राप्त होगी ?" [पृष्ठ : १६]

इसी पत्र के १७ जुलाई १६६० के अंक में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है 'मास्को की रंगीन शामें। मास्को के दृश्य अन्यत्र भी देखे हैं, पर ऐसा दृश्य पहली बार 'धर्मयुग' ने ही प्रस्तुत किया है।···"विदेशी पर्यटक को, जो यहाँ पहली बार आता है, क्या नजर आता है ? वह यहाँ के मुख्य बाज़ार गोर्की स्ट्रीट [रूसी इसे गर्व से ब्राडवे कहते हैं] पहुँचा नहीं कि विशेष प्रकार के रूसी पैण्ट, नायलन की कमीज पहने और टाई लगाए (मास्को में आमतौर पर टाई नहीं पहनी जाती) एक व्यक्ति जिसे यहाँ की जबान में 'स्टिलयगी' कहते हैं, उसके पास तुरन्त पहुँचता है और धीमी आवाज़ में अंग्रेजी बोलता है, 'मैं बिजनेस करता हूँ। आपको रूबल चाहिए, १ डालर के २५ रूबल। आपके पास बेचने के लिए कपड़े हैं, संगीत के रेकार्ड हैं" अभी वह उससे जान छुड़ाने या सौदा पटाने की सोच ही रहा होता है कि किसी 'स्टिलयगी' लड़की की गिद्ध-दृष्टि उस पर पड़ जाती है। वह किसी न किसी बहाने उसके पास पहुँचकर धीमी आवाज़ में (रूस में वेश्यावृत्ति वर्जित है) प्रणय-निवेदन करती है और उसके बदले में पाने की आशा रखती है पश्चिमी ढंग के कपड़े—नायलन के हों तो क्या कहने, भले ही पहने जा चुके हों। वह भले ही उन्हें पहन न सके, अच्छे दामों पर बेच तो सकती ही है; विदेशी पर्यटक को ताज्जुब हुए बगैर नहीं रहता कि ऐसी स्वस्थ और सुन्दर

किशोरियाँ कितनी मामूली चीजों के लिए अपने शील का सौदा करने में जरा भी संकोच का अनुभव नहीं करतीं। मद्यपान के शौकीनों के लिए तो संसार भर में मास्को जैसा नगर न मिले। बढ़िया से बढ़िया शराब कुछ ही रूबल में मिल जाती है। यही हाल उत्तम कमरों, फरकोटों तथा कुछ दूसरी उपयोगी चीजों का भी है।'

राष्ट्र-विरोधी प्रचार, जातीय घृणा और राजनैतिक तनाव को प्रोत्साहन देने वाली टिप्पणियों लेखों और अभिप्रायों को निरन्तर प्रकाशित करने के बावजूद, क्या 'धर्मयुग' अपनी राजनीति-निरपेक्षता का दावा कर सकता है ? राजनीति संस्कृति नहीं हो सकती किन्तु संस्कृति अवश्य राजनीति हो सकती है।

फ्रीडम का अर्थ है फाउन्डेशन का हित।

फ्रीडम का अर्थ है घृणा का प्रचार।

फ्रीडम का अर्थ है, फासिज्म का मौन समर्थन।

फ्रीडम का अर्थ है, राष्ट्रवात।

—नवीन कुमार

नयी कहानियाँ

यह एक संयोग ही है कि भाषा हिन्दवी के तीन कथाकार हैं: उपेन्द्रनाथ 'अश्क', ख्वाजा अहमद अब्बास और कृशन चंदर। यह भी एक संयोग ही है कि तीनों को फिल्म कथा-लेखन का पर्याप्त अनुभव है। और यह भी एक संयोग ही है कि तीनों की कहानियाँ, इन दिनों, हिन्दी की एक ही पत्रिका 'नई [भाषा हिंदवी के अनसार, जिस प्रकार 'कृशन' शुद्ध ध्वनि है, उसी प्रकार 'नई" भी शुद्ध ध्वनि है] कहानियाँ" में प्रकाशित हुई हैं।

'अश्क' की कहानी का शीर्षक है 'बेबसी'। रचनाओं के शीर्षकों का, हिन्दी में, विषय-वस्तु या केन्द्र भावना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। संग्रह का नाम होगा 'भूदान', मगर स्वयं विनोबा भावे भूदान से उसका कोई सम्बन्ध ढूँढ सकने में असमर्थ होंगे। नाम दिया जाएगा "बैंगन का पौधा" और वनस्पति के विद्यार्थी खरीद कर पढ़ेंगे और पढ़कर पछताएँगे। बहरहाल, 'अश्क' की प्रस्तुत कहानी के शीर्षक का सम्बन्ध किसी प्रकार की बेबसी से नहीं, सिवाय इस संभावना के कि लेखक ने यह कहानी बेबसी में लिखी है। कहानी के तीन पात्र हैं: एक विचित्र आया, एक विचित्र साहब और एक साधारण पत्नी। कहानी भी साधारण होकर भी विचित्र ही है। आया, अपने बीमार साहब से शारीरिक सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहती, प्रेम भी करना चाहती है. बल्कि विवाह करना चाहती है: "हम तुमसे शादी बनाने को माँगता है।" पत्नीनिष्ठ, रोगनिष्ठ, सौंदर्यनिष्ठ साहब उस कुरूप आया का प्रणय निवेदन अस्वीकार करता है। इसलिए एक रात आया अपने साहब पर बलात्कार कर देती है, बलात्कार की चेष्टा करती है। साहब का दिल तब भी नहीं पिघलता। दूसरे दिन वे उसे सेवा-मुक्त कर देते हैं।

मानव-चरित्र और यथार्थ की समझ इसे कहते हैं। आयाओं को बलात्कार की आवश्यकता पड़ सकती है, यह इसका पहला उदाहरण है। किसी दैनिक पत्र के संवाददाता की खबर

होती तो मुख पृष्ठ पर छपती । बलात्कार ! वह भी गृहस्वामी से ।

पर अगर कहानी में यह बलात्कार न होता, तो वह सब कैसे होता, जिसने इसे इतना चटपटा और 'नई कहानियाँ' के प्रथम पृष्ठ पर छपने योग्य बना दिया हैं : "उदभाती आया बराबर कराह रही थी । झल्ला कर लाल ने टेबललैम्प जलाया । उछलकर वह उठा और आया को लाँघता हुआ उसके सामने जा खड़ा हुआ । आया चित लेटी थी - हाथ और टाँगें फैलाये, प्यासी ऊबड़-खाबड़ धरती की तरह बेबाक और निर्लज्ज । अनिश्चित बादल-सा वह तना खड़ा रहा ।''' "आया के ब्लाउज का टिच बटन खुला था । हथेली का जरा-सा जोर पड़ते ही ब्लाउज खिसके गया । अचकचा कर उसने हाथ उठाना चाहा कि आया ने अपना दाँया हाथ उस पर रखकर उसे दबा दिया ।''''''कोमल किंचित् दबा-दबा सीना !"

जो प्रगतिशील आलोचक "पोर्नोग्राफिक साहित्य" के विरोध का दम भरते हैं, उनसे निवेदन है कि वे बात बात पर, लारेंस और ज्वायस का नाम लेकर अपनी समझ का परिचय न दिया करें । पोर्नोग्राफी का अर्थ यौन-प्रसंग नहीं यौन-प्रसंगों का व्यापाराचार है । प्रगतिशील लेखक 'अश्क' की प्रस्तुत कहानी, इसी सस्ती व्यावसायिकता का सस्ता उदाहरण है ।

व्यावसायिकता का एक दूसरा स्तर भी होता है : फार्मूला साहित्य । अब्बास की कहानी [सन्तरे] का फार्मूला है : एक युवती और दो नौजवान अर्थात् एक हीरोइन एक हीरो और एक विलेन । कहानी की नायिका अपने करोड़पति प्रेमी के साथ विमान-यात्रा कर रही है—विश्व-पर्यटन की ओर । सहसा उसे अपनी एक पिछली यात्रा याद आ जाती है । वह मद्रास से बम्बई जा रही है । मार्ग में विमान नागपुर रुकता है । वह एयरपोर्ट के रेस्तराँ पर जलपान कर रही होती है । सहसा एक मनमौजी नवयुवक वहाँ आता है, दोनों ताजे सन्तरे का रस पीते हैं । दोनों में परिचय बढ़ता है । नवयुवक भी दिल्ली जा रहा होता है । दिल्ली के एयरपोर्ट पर दोनों बिछुड़ जाते हैं । मगर भगवान बड़ा दयालु है । और भगवान् से बढ़कर कथाकार दयालु है । अतीत की इन स्मृतियों में डूबी हुई नायिका का विमान, एक बार फिर जब नागपुर एयर पोर्ट पर उतारता है, तो कितनी अघटित घटनाएँ घट जाती हैं । एयरपोर्ट पर संयोगवश नायिका के वर्तमान प्रेमी का एक पुराना मित्र मिल जाता है । संयोगवश दोनों नायिका के विषय में बातचीत करते हैं और संयोगवश नायिका इसे सुन लेती है और संयोवश ही उसे ज्ञात हो जाता है कि उसका करोड़पति प्रेमी उससे प्रेम नहीं करता, महज झाँसा दे रहा है । यह एक संयोग ही है कि वह आत्महत्या नहीं करती, क्योंकि संयोगवश उसी नागपुर एयर पोर्ट पर वर्षों बाद उसका वही पुराना सहयात्री मनमौजी नवयुवक मिल जाता है । कहानी दुःखान्त होते-होते सुखान्त हो जाती है । नायिका इस मध्यवर्गीय नवयुवक के साथ राष्ट्र-निर्माण के लिए, भिलाई चली जाती है ।

यह है अद्भुत संयोगों की एक अद्भुत कहानी, जिसमें विमान-यात्रा तथा भौगोलिक प्रसंगों का अखबारी ज्ञान भरा पड़ा है । यदि अब्बास, इस कहानी की फिल्म नहीं बना सकते, तो इसके अन्य उपयोग भी हो सकते हैं । इंडियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन को चाहिए कि वह इसे एक चित्र-विचित्र यात्रा-विज्ञापन के रूप में छाप दे । मेजिक कार्पेट !

कृशन चन्दर की कहानी की चर्चा, मैं जान बूझकर नहीं करना चाहता। कारण कि वह मुझे स्मरण नहीं है। इन दिनों मैंने **'धर्मयुग'** से लेकर **'माया'** तक में कृशन चन्दर की दर्जनों कहानियाँ पढ़ी हैं, पर एक भी स्मरण नहीं और उन्हें दुबारा पढ़ सकने का साहस मुझमें नहीं। लगता है, सब एक जैसी हैं। कभी कृशन चन्दर ने 'बालकनी' जैसी कहानी भी लिखी थी। **'नई कहानियाँ'** के इसी अंक में सम्पादक की यह सूचना निरर्थक जान पड़ती है कि अगले अंक से, अब्बास और कृशन चन्दर, अखबार की कतरनों से कहानियाँ लिखेंगे। और अभी तक वह करते क्या रहे हैं!!

पर यह इन तीन कहानीकारों की चर्चा हुई। यह आज की कहानी, नयी कहानी की स्थिति का परिचय नहीं है। कहानी के नाम पर अगर बुरा लिखा जा रहा है, तो अच्छा भी लिखा जा रहा है। और यह महज अच्छा नहीं है, अच्छे से कुछ ज्यादा है, विचारणीय है। 'नई कहानियाँ' के जुलाई अंक में नये कहानीकार **कमलेश्वर** की एक कहानी प्रकाशित हुई है, **नीली झील**। कथानक बहुत नया नहीं है, मगर कहानी में भरे हुए रंग नये हैं, रेशे नये हैं, बुनावट नयी है। आद्यन्त एक संगीत है, एक रोमांटिक कविता का संगीत। सोनपतारी, सरपपच्छी, सारस, सुरखाब··कितनी ही फरफराहटें हैं···ये सब कहानी के अलंकरण नहीं हैं, स्वयं कहानी हैं। इनसे कहानी सजती नहीं, बनती है। कविता भी कहानी हो सकती है और कहानी भी कविता। कहानी को अंग-उपागों में विभक्त कर, आदम के युग की कहानी की धुजा फहराने वाले स्कूली आलोचक, जरा यूनिवर्सिटी की चहार दीवारी से बाहर आकर देखें, कहानी ऐसी भी लिखी जा रही है।

गहरी संवेदना का एक आत्मीय उदाहरण है **रामकुमार** की कहानी **'रेकार्ड'** **[नई कहानियाँ]** : एक मृत भाई की यादगार, जिसमें पिता का दर्द और बड़े भाई की मौन गहरी पीड़ा, छिपी हुई हैं। ऐसे कहानीकारों की कमी नहीं, जो बात-बात पर रो पड़ते हैं और ऐसे भी मिलेंगे, जो पाठक को रुला दें। पर ऐसे विरले हैं, जो पाठक के मन पर दर्द की गहरी छाप, हमेशा के लिए छोड़ जाएँ। रामकुमार एक ऐसे ही कलाकार हैं : इस मामले में वे, हिन्दी में, अद्वितीय हैं। उनसे अधिक आत्मीय कथाकार, हमारे यहाँ कोई नहीं।

सर्वथा नये कहानीकार प्रबोध कुमार की कहानी **सी-सॉ [कृति]** भी एक हार्दिक अवसाद की संवेदना है। **केथरिन मैन्सफील्ड** की कहानियों में दबा हुआ उदास स्वर! कोई ऐसी घटना नहीं जो पाठक को व्यग्र करे, कोई डींग, कोई आडम्बर नहीं. केवल एक मन:स्थिति, एक मद्धिम आरोह-अवरोह, एक लय! यह प्रबोध कुमार की कहानी की विशेषता है, यानी नयी कहानी की।

नयी कहानी की चर्चा में, **उषा प्रियम्वदा** एक नया नाम है। इधर तमाम पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ प्रकाशित हुई है। कहते हैं जबान, कायस्थों की अपनी चीज है। मैं नहीं जानता। यह जरूर जानता हूँ कि उषा प्रियम्वदा के पास जबान है, जो हिंदी के बहुत से कहानीकारों के पास नहीं है। यह मामूली बात नहीं। मध्यवर्गीय परिवारों के अंदरूनी यथार्थ की कहानियाँ, बहुत दिनों बाद अगर कहीं पढ़ने को मिल रही हैं, तो उषा प्रियम्वदा के यहाँ। **'नई कहानियाँ'** में **'वापसी'** पढ़ सकते हैं।

नये कहानीकार तमाम, मध्यवर्ग से आये हैं। मगर कितनी कहानियाँ हैं जिनमें मध्यवर्गीय नवयुवक की छटपटाहट, संघर्ष, विवशता और व्यथा की कहानियाँ हैं। राम-नारायण शुक्ल, शायद अकेले हैं। डेढ़-दो वर्षों में उन्होंने दर्जनों कहानियाँ ['दृष्टिकोण' 'समय का बहाव' 'प्रचार' 'फिर' 'एकाउन्ट्स' 'मोती'] लिखी हैं। और एक-एक मन पर अंकित है। नयी कहानी का सिक्का, जिन लेखकों के नाम से चल रहा है, उनमें से अधिकांश के पास वह संवेदना और वह साफ दृष्टि नहीं, जो रामनारायण शुक्ल के पास है ! आवश्यकता, आज इस बात की है कि नयी कविता में जिस तरह, नयी पीढ़ी की एक कहानी है, नयी कहानी में भी नयी पीढ़ी की एक कहानी हो। रामनारायण शुक्ल अकेले यह काम कर रहे हैं। उनकी नयी कहानी है : **महेन्द्र का भाई** [कृति]।

हरिशंकर परसाई की कहानी **'एक आदर्श फिल्म कथा'** [**नई कहानियाँ**] और **'सुदामा के तंदुल'** [ज्ञानोदय] की इन दिनों चर्चा है। होनी ही चाहिए; बल्कि उनकी कहानियों की चर्चा पहले ही होनी चाहिए थी। हिंदी में व्यंग्य की कमी नहीं है; व्यंग्य की तमीज़ की कमी है। इस विपुल युग में भी हमारे यहाँ व्यंग्य के विषय सिमित हैं। परसाई ने बहुत कुछ कांट्रिब्यूट किया है : कवि, फिल्मी कथाकार, अखबारनवीस, राजकीय अव्यवस्था। सूची लम्बी है। ऐसा कुछ नहीं जो व्यंग्य का विषय न हो सके। व्यंग्य की तमीज चाहिए। जो व्यक्ति स्वयं पर हँस सकता है, वही हास्य-प्रिय हो सकता है। परसाई की इस हास्य-प्रियता में कहीं सस्तापन नहीं है। वह बहुत अच्छे, सच्चे मर्मिक साहित्य की कोटि का है। कोरा व्यंग्य नहीं है, एक समूचे समाज का उद्घाटन है।

इस तरह अगर नयी कहानियाँ लिखी जा रही हैं; तो नयी कहानियों की चर्चाएँ भी हो रही हैं। **'नई कहानियाँ'** में **मोहन राकेश** नियमित रूप से एक स्तम्भ लिख रहे हैं। नये अंक में, उनकी यह शिकायत बिलकुल सही है कि पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर, इन दिनों बिलकुल विकृत और कुरुचिपूर्ण कहानियाँ आ रही हैं। पर इसके लिए आधुनिक नागरिकता के प्रतीकों को दोषी ठहराना व्यर्थ है। आधुनिक नगरों और महानगरों में मानवीय संबन्ध टूट रहे हैं और इनकी जगह बौद्धिक सम्बन्ध ले रहे हैं। काफीघर इन्हीं बौद्धिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। जब मनुष्यता, धीरे-धीरे इस बौद्धिक सम्बंध पर आकर ठहरने लगे, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि साहित्य में, सतह पर जीवित इस संबंध-हीन मानव की अवतारणा नहीं होगी ? प्रश्न यह है कि यदि हमारे साहित्य में, इसकी उद्भावना नजर आ रही है, तो यह स्वानुभूत, समीपस्थ सत्य है या दूरबीन का सत्य ? मैं मोहन राकेश से सहमत हूँ। नयी कहानी ही नहीं, नयी कविता का भी अधिकांश, दूरबीन का सत्य है।

'नई कहानियाँ' में ही एक और स्तम्भ लिखा जा रहा है। वरिष्ठ कथाकारों के रेखा-चित्र। **रेणु** कलाकार हैं और इन चारों रेखाचित्रों (**यशपाल, अज्ञेय, अश्क, जैनेन्द्र**) में उन्होंने अपने रचनाकौशल का परिचय दिया है। पर अल्प-परिचय के बल पर तैयार रेखा-चित्रों में रेखाएँ भले ही हों, चित्र नहीं होगा। इन रेखाचित्रों के साथ भी यही हुआ है।

'नई कहानियाँ' और 'नयी कहानियाँ' की चर्चा में एक बात और । सम्पादकीय, किसी पत्रिका का आवश्यक अंग नहीं होता और अगर होता भी है तो यह नहीं कि इस मास पत्रिका का सरक्युलेशन कितना बढ़ा। सम्पादक और सेल्समैन में अन्तर होता है—एक व्यावसायिक पत्रिका के सम्पादक को, यह साधारण-सी बात और भी अच्छी तरह मालूम होनी चाहिए।

—राधिकाचरण तिवारी

लंडन में पिकासो का प्रदर्शन

आज से ५० वर्ष पूर्व जब **भविष्यवाद** के प्रवर्तक **मेरीनेत्ती** ने कहा था कि जब तक हम प्रौढ़ायु को प्राप्त हों, एक नयी पीढ़ी आये और हमें रद्दी की टोकरी में फेंक दे; तब कौन कह सकता था कि १६६० में, प्रख्यात कला-गृह **वेनिस बिनेल** यह रद्दी की टोकरी सिद्ध होगा। वेनिस बिनेल की दीवारों पर, भविष्यवादियों की कलाकृतियाँ अलंकृत हैं, जिनमें **क्यूबिस्ट** कृतियाँ भी शामिल हैं [और संभवतः आकर्षण का एकमात्र केन्द्र वही है] पर इंगलैंड के **वोर्टिसिस्टो** की नहीं, जो ऊपरी तौर पर भविष्यवाद के अधिक निकट हैं। १६०६ में प्रकाशित मेरीनेत्ती के मैनिफेस्टो के नारे ये थे : **युद्ध, सैनिकवाद, देशभक्ति, स्त्रियों के प्रति आक्रोश। नष्ट करने योग्य चीजें ये थीं : म्यूजियम, पुस्तकालय, नैतिकतावाद, समस्त अवसरवाद, उपयोगितावादी मानव-पशुता और पुरातत्व।** भविष्यवाद, परम्परावादी रूढ़िवादिता और रूढ़िवादी परम्परावाद के प्रति एक विस्फोट था; मगर वह महज एक विस्फोट था; स्वयं में बहुत बड़ी कला नहीं।

इसी पृष्ठभूमि में प्रतिफलित **पिकासो** और **ब्राक** की कला भी विस्फोट थी। मगर वह विस्फोट की कला नहीं थी, कला का विस्फोट थी। कला के विस्फोट का प्रभाव दूरव्यापी होता है; कला के किसी एक स्तर में नहीं, समस्त स्तरों में एक क्रांति उपस्थित कर देता है, बल्कि समस्त आवर्त बदल देता है। कलाकार पिकासो की कृतियों ने, इस युग की कला-मान्यताओं को जितना प्रभावित किया है, अन्य किसी भी कलाकार ने नहीं। चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य, काव्य, गद्य, कुछ भी अछूता नहीं। क्या शिल्प और क्या चिन्तन! कला का कौन-सा आन्दोलन है, जिसे पिकासो ने प्रभावित नहीं किया है। क्यूबिज्म, सुररियलिज्म, क्या बचा है! आधुनिक फ्रेंच कवियों की एक पूरी पीढ़ी ने, पिकासो को एक स्वर से स्वीकार किया है। **काक्तू, ब्रेताँ, एलुआर**, कुछ नाम हैं। स्वयं पिकासो ने कला में कौन-सा प्रयोग नहीं किया है? नये अन्वेषकों को बहुत दिनों तक पिकासो का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। साधारण जनता एक अर्से तक पिकासो को अजीबोगरीब कृतियों के सृष्टा के रूप में जानती थी; पर अजीब बात है कि अजीबोगरीब कृतियों का यह सृष्टा ही साधारण जनता का सबसे बड़ा कलाकार है – चाहे वह कोरिया का हत्याकांड हो या शांति की मानव-आकांक्षा। पिकासो की कला संसार की उत्पीड़ित जनता की अपनी कला है।

लंडन की प्रख्यात **टेट गैलरी** में पिकासो की कलाकृतियों का प्रदर्शन, इन दिनों, लंडन के कला-प्रेमियों के ही नहीं, सामान्य नागरिकों के भी आकर्षण का सबसे बड़ा केन्द्र है। यद्यपि,
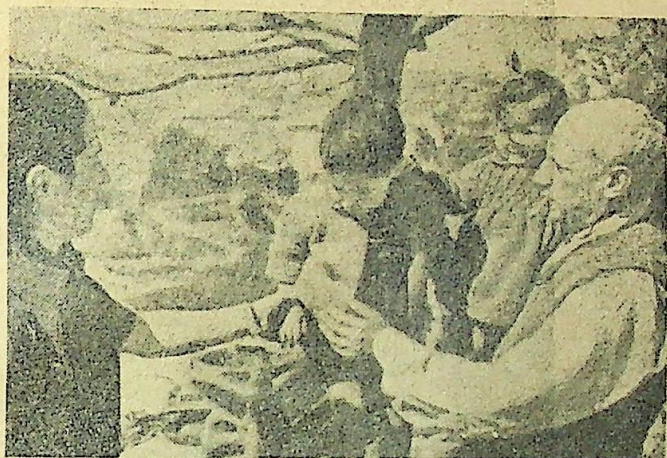
पाब्लो पिकासो अपनी पत्नी और बच्चों के साथ

दो बैठी औरतें

मैंडोलिन वाली लड़की
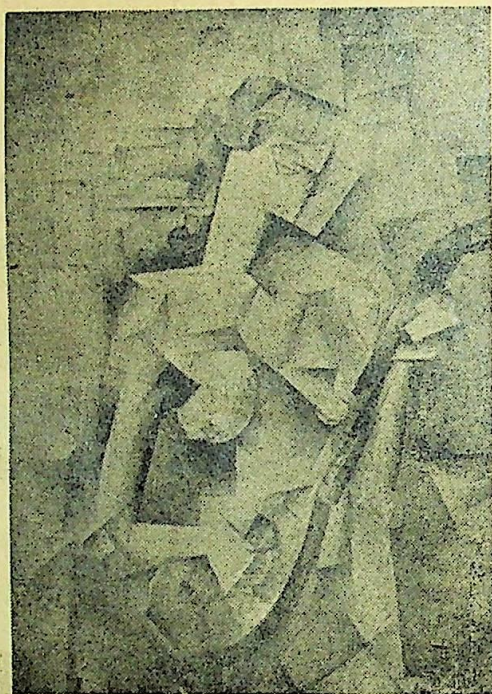
ला विये
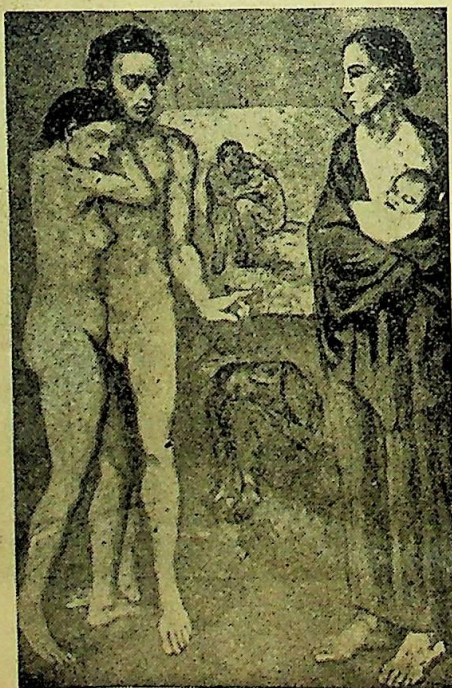
इसे पिकासो का प्रतिनिधि प्रदर्शन नहीं कहा जा सकता—पिकासो की अनेक प्रतिनिधि कृतियाँ निजी और राष्ट्रीय संग्रहालयों में बिखरी हैं —तथापि यह पिकासो की कला का पर्याप्त परिचय देता है। पिकासो कितनी मुद्राओं, कितने क्यूबों, कितनी आकांक्षाओं में उपस्थित हैं। वैविध्य अगर महान् कला की एक अनिवार्यता है, तो पिकासो अद्वितीय हैं। प्रस्तुत प्रदर्शन में १० लाख पाउन्ड के लिए बीमाकृत २६० चित्र प्रदर्शित हैं। १८९५ से लेकर १९५७ तक की कृतियाँ यहाँ उपलब्ध हैं। दो वर्षों के अनवरत् परिश्रम से चित्रों का चयन किया है पिकासो के व्यक्तिगत मित्र तथा जीवनीकार रोलैंड पेनरोज ने

पिकासो की कुछ कृतियों के पुनर्मुद्रण, 'कृति' के इस अंक के लिए प्रस्तुत हैं।

पते—

उषा प्रियम्वदा; १०/३, बैंक रोड, प्रयाग
केदारनाथ अग्रवाल; एडव्होकेट, बाँदा
सुरेन्द्र कुमार दीक्षित; १७७, राजेन्द्र नगर, लखनऊ
सिद्धेश्वर वर्मा; हिन्दी निर्देशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली
चन्द्रबली सिंह; ४७/१, ए, रामपुरा, वाराणसी
काशीनाथ सिंह; लोलार्क कुण्ड, भदैनी, वाराणसी
अजित कुमार अग्रवाल; ५६, दिलकुशा, नया कटरा, इलाहाबाद
कीर्ति चौधरी; १ भगत सिंह रोड, विले पार्ले, बम्बई-५७
जगदीश चतुर्वेदी; ९/२, ईस्ट पटेल नगर, नयी दिल्ली
दूधनाथ सिंह; ५९०, अहियापुर, अलाहाबाद
मुद्राराक्षस; ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१
प्रबोध कुमार; ९, सिव्हिल लाइन्स, सागर (म० प्र०)
महेन्द्र भल्ला; ८/३९, साउथ पटेल नगर, नयी दिल्ली
प्रयाग शुक्ल; ७०, तारक प्रमाणिक रोड, कलकत्ता-६

अफ्रीका साउथ इन एक्ज़ाइल

[दक्षिण अफ्रीकी जनता की समस्याओं के प्रति समर्पित एक अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक पत्र]

*

अपील

दक्षिण अफ्रीका यूनियन में स्टेट आफ इमर्जेन्सी की घोषणा ने वहाँ "अफ्रीका साउथ" का प्रकाशन असंभव कर दिया है। अतः वह देश-निष्कासन स्वीकार करता है—इस शपथ के साथ कि वह दक्षिण अफ्रीका की उत्पीड़ित जनता की माँगों के लिए संघर्ष जारी रखेगा—जब तक कि अफ्रीकी जनता को अपने अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते।

*

"अफ्रीका साउथ इन एक्ज़ाइल" का प्रकाशन जारी रखने के लिए हमें काफ़ी बड़ी धनराशि की आवश्यकता होगी। आपसे प्रार्थना है कि आप इसमें अधिकाधिक योगदान दें।

पत्रिका खरीद कर अथवा निधि प्रदान कर, इस मानव-कार्य में योगदान दिया जा सकता है।

*

प्रस्तावक

बर्ट्रेन्ड रसेल, सर आइजया बर्लिन, लुई फिशर, बेसिल डेविडसन, इंदिरा गांधी किंग्सले मार्टिन, स्टीफेन स्पेन्डर, लुई मैकनीस, जान गुन्थर, एलीनर रूजवेल्ट, व्ही० के० आर० व्ही० राव, ऐलेन रॉस, रेव० मार्टिन लूथर किंग तथा अन्य

*

अफ्रीका साउथ इन एक्ज़ाइल, ३१ए, जान एडम स्ट्रीट, लंडन, डब्ल्यू० सी०—२

चीनी मिट्टी के बर्तन
सुंदरता और उपयोगिता
में बेजोड़
प्रस्तुतकारक—
बंगाल
पॉटरीज़
लिमिटेड
४५, टैंगरा रोड,
कलकत्ता-१५
सोल सेलिंग एजेंट्स :—
एलाइड डिस्ट्रीब्यूटर्स एण्ड कंपनी
हेड आफिस :– ३३, मेबोर्न रोड, कलकत्ता-१
BP 5200

कृति—श्रावण, संवत् १८८२ शक.
Regd. No. D. 1030
अतुल
डाईज
रसायन
औषधि
अ
अतुल
ATUL
दि अतुल प्राडक्ट्स लिमिटेड
अतुल, वाया वलसाड
(पश्चिमी रेलवे)